रीतिविज्ञान

सर्जनात्मक समीक्षा का नया आयाम

विद्यानिवास मिश्र
प्राध्यापक, आधुनिक भाषा एवं भाषाविज्ञान-विभाग,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

राधाकृष्ण प्रकाशन

छात्र संस्करण

प्रथम संस्करण १९७३

राधाकृष्ण प्रकाशन
२, [illegible] रोड,
मूल्य [illegible] रुपये
नई दिल्ली-११०००२

प्रकाशक
अरविन्द कुमार
राधाकृष्ण प्रकाशन
२ अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-११०००६

मुद्रक
रूपक प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

नियतिवश शोधकार्य में मेरे साथ जुड़े

कमला, अरुणा, अरुणिमा, रश्मि,
उमाकान्त, पशुपति, वाचस्पति और सिद्धनाथ

इस रीतिविज्ञान के पन्थियों के लिए

अनुक्रम

आभार

'रीतिविज्ञान : सर्जनात्मक समीक्षा का नया आयाम' यह पुस्तक मैंने शास्त्रीय पद्धति पर नहीं लिखी। रीतिविज्ञान के सुकुमारमति शोध छात्र-छात्राओं को रीतिविज्ञान की ओर अभिमुख करने के लिए कुछ चर्चाओं का सूत्रपात हुआ, कुल जुडकर एक किताब बन गई। इनमें से कुछ अंश केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, हिन्दुस्तानी एकेडमी और राष्ट्रीय शिक्षा संस्थान की संगोष्ठियों में पढ़े गये, कुछ की कक्षाओं में चर्चा हुई। मुख्य उद्देश्य सामने यह था कि अंग्रेज़ी के स्टाइलिस्टिक्स के ग्रन्थ और निबन्ध अंग्रेजी या किसी अन्य विदेशी भाषा के उदाहरणों से निदर्शित होने के कारण हिन्दी-भाषी राज्यों के नवसाक्षरों को हृदयंगम नहीं हो पाते, इसलिए परिचित उदाहरणों के माध्यम से रीतिविज्ञान की प्रयोजकता समझायी जाय। मेरा यह भी दावा नहीं है कि यह पाठ्यक्रमोपयोगी ग्रन्थ है, क्योंकि एक तो उतनी ठस भाषा लिखने का मुझे अभ्यास ही नहीं है, दूसरे यह केवल छात्र छात्राओं के लिए ही लिखा भी नहीं गया है। इसके सम्बोध्य पाठक साहित्य को सजीव संरचना के रूप में ग्रहण करने वाली सभी सहृदय अध्येता हैं, अध्यापक हों, न हों। मैंने भरसक इसी उद्देश्य के कारण पारिभाषिकता से बचने की कोशिश की है।

शास्त्रीय स्थापना के रूप में 'शैलीविज्ञान' नाम की पुस्तक मेरे स्नेहभाजन मित्र डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने अभी हाल ही में प्रकाशित की है, वे मेरी पद्धति को संकोचवश संस्कृतभावित कहकर उपचरित आदर देते हैं, मेरी पद्धति से सहमत नहीं, यह भली भाँति जानता हूँ, पर उनकी शास्त्रीय स्थापना की प्ररोचना के रूप में ही मैंने इन निबन्धों को ग्रन्थित किया है। मेरा अपना विश्वास है कि सरणियों के परिचय से सरणि का उतना ज्ञान नहीं होता, जितना सरणि की खोज के लिए अंधेरे में भटकते हुए अपने पदबोध से एक सरणि पर चलने से होता है. ऐसे में स्खलन भी होते हैं तो उनसे पीछे आने वाले का पथ प्रशस्त होता

है, वह उससे बचने का इशारा पा जाता है। मैं राह तलाश कर रहा हूँ। संस्कृत साहित्यशास्त्र की सम्भावनाओं का पूरा उन्मीलन अभी नहीं हुआ है; वस्तुत उसकी प्राणहीन कोटियों की विभेदक परिभाषाओं पर ही शास्त्रार्थ अधिक हुआ है। मैं उस साहित्यशास्त्र की बौद्धिक दृष्टि का आशंसक हूँ और मुझे पश्चिमी भाषाशास्त्रीय चिन्तन में उस बौद्धिक दृष्टि का आभासमात्र दिखता है। पर पश्चिम का विचारक और शोधक अधिक अध्यवसायी और अधिक जागरूक है, उसने आभासमात्र से एक पूरा विज्ञान आकारित कर दिया है। उसकी जागरूकता से प्रेरणा लेकर ही मेरे कुछ साथियों ने विनम्र पैमाने पर ही सही राष्ट्रीय शिक्षा सस्थान के ग्रीष्म-सत्रों में और केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के शिविरों में और हिन्दुस्तानी एकेडमी तथा संस्कृत विश्वविद्यालय की संगोष्ठियों में इस दिशा में कुछ बातचीत करना शुरू किया। मैं इन संस्थानों का आभारी हूँ, इनसे भी अधिक आभारी हूँ अपने उन तरुण मित्रों का जो मेरे सहयोगी के रूप में या मेरी व्याख्याओं के ग्राहक के रूप में मुझे इस दिशा में काम करने की प्रेरणा देते रहे हैं। पंडित उमाशंकर शुक्ल डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, श्री अनिल विद्यालंकार, डॉ० अमर बहादुर सिंह और डॉ० माणिकलाल चतुर्वेदी का विशेष रूप से ऋणी हूँ और अपने अभिन्न मित्र डॉ० नामवर सिंह का भी—इसलिए कि उनके मन में रीतिविज्ञान से एक बिदकन है, इसके बावजूद वे रीतिविज्ञान-परक व्याख्याओं में रुचि लेने की कृपा करते हैं और बिना मुझसे पूछे मेरे लेख मुझे रूपवादी के रूप में बदनाम करने के लिए 'आलोचना' में छाप भी लेते हैं।

परन्तु ग्रन्थ रूप में परिणत कराने का कार्य जिन शोध-छात्र-छात्राओं ने किया, उनके प्रति आभार व्यक्त करके उन्हें संकोच में नहीं डालूंगा। यह ग्रन्थ मैंने उन्हीं को अर्पित किया है, ताकि वे इस संकल्प के साथ अपने कार्य में जुटें कि यह ग्रन्थ हमारे चिन्तन की एक कड़ी है, इससे आगे हमको जाना है, जरूरत पड़े तो इसे तोड़कर भी। इनमें से छात्रों के नाम हैं पशुपतिनाथ तिवारी, सिद्धनाथ त्रिपाठी, उमाकान्त तिवारी, वाचस्पति शुक्ल, और छात्राओं के नाम हैं: कमला द्विवेदी, अरुणा दुबे, रश्मि श्रीवास्तव और अरुणिमा दिलजन। भवभूति ने अपने पूर्ववर्त्ती कवियों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की थी, मैं अपने परवर्त्तियों के प्रति विनत हूँ, क्योंकि उनकी रुचि साहित्य में उत्पन्न करके ही अपनी सार्थकता कुछ-कुछ प्रमाणित होती है और आज के भयावह विश्वविद्यालयी अध्यापन में एक क्षण के लिए भी यह सार्थकता प्रतीत हो सके तो विश्वविद्यालयों का अविश्वास और आतंक का सारा धुँआ सौ-सौ बार स्वीकार है।

अन्त में, जिन सुकृती आचार्यों, कवियों और विचारकों की कृतियों से मैंने कण-कण विचार और भाव जोड़े हैं, जिन गुरुओं की शिक्षा के संस्कार से कविताओं से

अपना तादात्म्य जोड़ा है और जिन सहृदय मित्रों के साहचर्य में कविता के बारे में उन्मुक्त भाव से चर्चा करके अपने जीवन की तपन बुझायी है, उन सबके प्रति हृदय से आनत हूँ। बन्धुवर ओम्प्रकाश जी के धैर्य की क्या प्रशंसा करूँ कि उन्होंने एक वज्र आलसी को तगादों की मार से हकीम बना के छोड़ा !

—विद्यानिवास मिश्र

१

रीतिविज्ञान : परिधि और प्रयोजन

प्राय: भारतीय वाङ्मय में 'शैली' शब्द इधर अंग्रेज़ी शब्द 'स्टाइल' के रूप मे प्रयुक्त होता रहा है। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'रीति'[1] का प्रयोग और प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र में 'वृत्ति'[2] शब्द का प्रयोग मिलता है। इन तीनो शब्दों के अर्थ-भेदों पर विचार करने के पश्चात् यह निर्णय लेना अधिक उचित होगा कि आधुनिक भाषाशास्त्र में जिस संदर्भ में 'स्टाइलिस्टिक्स' या 'स्टाइल इन लैंग्वेज' या 'लिंग्वो-स्टाइलिस्टिक्स' का प्रयोग हो रहा है, उसके समीपतम अर्थ देने वाले किस शब्द का व्यवहार अधिक समीचीन होगा। प्राचीन कला-शास्त्र मे स्थापत्य, वास्तु, चित्र-कला आदि के संदर्भ में शैलियों के नाम मिलते है। स्थापत्य में— नागर शैली, बेसर शैली या द्राविड़ शैली; चित्र में—अजन्ता, राजपूत, मुगल, कांगड़ा, मेवाड़ शैली; और वास्तु-शिल्प में—गांधार, मथुरा, आंध्र, गुप्त, पाल, पल्लव, चोल शैली—ये नाम मिलते हैं। अंग्रेजी में 'हेयर स्टाइल' या केश-विन्यास की बात करते है, तो हमारे दिमाग़ में सभी प्रकार के केश-विन्यासो मे समान रूप से वर्त्तमान कुछ लक्षण आते हैं। इन संदर्भों में 'स्टाइल' या शैली का प्रयोग एक ऐसी सन्धारणा के रूप में किया जाता है, 'जो दो या दो से अधिक पदार्थों पर लागू की जा सकती है, बशर्ते कि उनमें कुछ लक्षणों में एकदम समानता हो, चाहे कुछ अन्य सतही विशेषताओं के कारण वे पदार्थ अलग-अलग दिखते हों'।[3] ये सतही विशेषताएँ प्राय: उन पदार्थों के लिये मूलभूत होकर भी मौलिक विशेषताएँ नहीं होती। भाषा में जब शैली या 'स्टाइल' का प्रयोग किया जाता है, तो यह इन दूसरे प्रकार के सन्दर्भों से बिल्कुल अलग होता है, क्योंकि भाषा का अपना विशेष कार्य है, जो किसी भी दूसरे उपयुक्त संदर्भ के ऊपर लागू नही हो सकता, वह कार्य है—भाषा की प्रेषणीयता।

भाषा केवल कुछ पुनरावर्त्तमान साँचों को ज्यों का त्यों उतारने की प्रक्रिया नही है क्योंकि यह निरन्तर व्यवहार में लायी जा रही है रूपान्तरित हो रही है सरल हो रही है और निरन्तर नये-नय सदर्भों म होने के कारण

निर्दिष्ट संदर्भ या स्थिति की अपेक्षाओं के अनुसार कोई-न-कोई चीज अप्रत्याशित रूप में या उसी के लिए विशेष रूप से निर्दिष्ट विशेषता के साथ मिलती रहती है।[४] इस प्रकार भाषा निश्चित संकेतों का सहारा लेती हुई भी निरन्तर परिवर्त्तन या विवर्त्तन की स्थिति में रहती है। केवल विश्लेषण की सुविधा के लिए या शिक्षण की सुविधा के लिए भाषा एक सिद्ध वस्तु के रूप में मान ली जाती है और उसके उपादान तत्त्वों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के नियम निर्धारित किये जाते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि भाषा इन निर्धारित नियमों की परिधि घटाती-बढ़ाती रहती है और एक सर्जनात्मक मानवीय प्रक्रिया के रूप में आगे बढ़ती रहती है। जहाँ तक सिद्ध वस्तु के रूप में भाषा के विश्लेषण की बात है, वह सामान्य व्याकरण या सामान्य भाषा-शास्त्र के अन्तर्गत लायी जा सकती है, किन्तु जहाँ नियमों की परिधि के विस्तार की बातें आती हैं, या पूर्वनिश्चित संकेतों के द्वारा द्योतित अर्थों या दूसरे शब्दों में—अभिधेय संदेशों की परिधि के बाहर जा कर अभिधेयेतर या वाच्येतर नवसर्जित सन्दर्भ के उन्मीलन का प्रश्न उठता है, वहाँ भाषा का एक अतिरिक्त प्रयोजन जुड़ जाता है।[५] वह प्रयोजन सामान्य संदेश के सम्प्रेषण से अलग न जाते हुए, उसको अपने में समेटते हुए भी उससे सम्बद्ध पर उससे भिन्न ऐसे अर्थ के प्रकाशन तक उसे ले जाता है, जो तत्तद्विशेष संकेत मे ही एकान्त रूप से निहित है,[६] और इसीलिए उसे एक ही भाषा में सामान्य सोद्देश्यकता के अतिरिक्त एक अतिरिक्त सर्जनात्मक सोद्देश्यकता की खोज करने के लिये सामान्य भाषाशास्त्र के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए, उसके विशेष प्रकार के गुणों की तथा ऐसे सन्दर्भों की व्याख्या के लिए एक अलग प्रायोगिक शास्त्र प्रतिपादित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।[७]

इसी को भाषागत 'शैली-विज्ञान' कहा जाय या 'रीति-विज्ञान' कहा जाय, यह विचारणीय प्रश्न है। 'शैली' का प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय में साहित्येतर विधाओं के संदर्भ में प्रादेशिक विशेषताओं या कला-सम्प्रदायगत विशेषताओं को जतलाने के लिये हुआ है या किसी व्यक्ति की साहित्यिक अभिव्यक्ति की विशेषताओं को जतलाने के लिये आधुनिक समीक्षा-साहित्य में हुआ है, इस दृष्टि से उपयुक्त भाषागत सर्जनात्मक वैशिष्ट्य को बोधित करने के लिये शैली का प्रयोग उतना संगत नहीं जान पड़ता। इस अर्थ में, 'रीति' शब्द का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, क्योंकि शुद्ध रूप से सामान्य भाषा के विशेष गुणों के आधार के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण करने के लिये ही 'रीति' शब्द प्रयुक्त हुआ है या साहित्य के बाहर सामाजिक व्यवहार की किसी व्यापक सामान्य विशेषता का बोधन कराने के लिये प्रयुक्त हुआ है।[८] इन दोनों दृष्टियों से जब हम प्रस्तुत सन्दर्भ में बात करना चाहते हैं, तो भाषागत 'स्टाइल' के लिये 'रीति' शब्द और 'लिंग्वो-स्टाइलिस्टिक्स' के लिये 'रीति विज्ञान' शब्द अधिक

उपयुक्त समझते हैं।[९]

यहाँ आपत्ति उठायी जा सकती है कि 'रीति' वामन द्वारा प्रतिपादित साहित्य-शास्त्र के शब्दों में निश्चित अर्थ में ही अधिक प्रसिद्ध है और उसका क्षेत्र केवल 'विशिष्ट पद-रचना रीति' है, अर्थात् पद-रचना की विशिष्टता मात्र ही रीति है, इसके अन्तर्गत भाषा में संकेतगत विभिन्न स्तरीय विशेषताएँ नहीं लाई जा सकती है। पर यह आपत्ति बहुत वज़न नहीं रखती, क्योंकि मूल बात, जो हम रीति के द्वारा द्योतित करना चाहते है, है—सकेत-सामान्य से संकेतित-सामान्य के साथ ही साथ उससे सम्बद्ध संकेतित-विशेष की पहचान जिन घटक तत्वों द्वारा होती है, उनके लिए एक शब्द ढूँढना, और वह 'रीति' हो सकता है या नहीं। तौलने पर उस दृष्टि से 'रीति' शब्द में यह क्षमता सबसे अधिक प्रतीत होती है। उसके अर्थ का थोड़ा सा विस्तार-भर करना होगा और यह विस्तार भाषा की सम्भावना के अन्तर्गत ही आयेगा। एक दूसरी बात और भी है, जिसके कारण 'शैली-विज्ञान' शब्द का प्रयोग न करके 'रीति-विज्ञान' शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त लगता है, वह यह कि शैली के विषय में एक बहुत ही व्यापक धारणा रूढ़ हो चुकी है, कि 'शैली आत्मनिष्ठ होती है' अर्थात्-- शैली आदमी की अदा, भंगिमा, रुझान तथा रुचि की अधिक परिचायिका होती है, समष्टिगत व्यवहार के वैशिष्ट्य की उतनी परिचायिका नही होती और इस दृष्टि से 'शैली' शब्द का प्रयोग आधुनिक भाषा-शास्त्र की 'लिंग्वोस्टाइल' के सन्दर्भ में इसीलिए उतना उपयुक्त नहीं समझा जा सकता।

नाट्यशास्त्र में वृत्ति शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है—रस-विषयक-व्यापार, और यह मुख्यतः 'चित्त' का व्यापार है, जो क्रमशः दर्शक के चित्त को विकास, विक्षेप, संकोच, विस्तार के रूप में अनुवर्तित करता है। भरत ने कैशिकी, सात्वती, आरभटी और भारती– ये चार वृत्तियाँ गिनायी हैं, जो इन चार चित्तवृत्तियों के प्रकाशन के लिए ही निर्दिष्ट की गयी हैं।[१०] *आनन्दवर्धन* ने इन चारों को शब्द-वृत्ति न मानकर अर्थ-वृत्ति माना है। *भोज* ने शब्दार्थ-वृत्ति अर्थात् -- शब्द-अर्थ दोनों की वृत्ति माना है। और आगे चलकर भी *अभिनवगुप्त-पाद* और *धनंजय* इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रतिपादित करते हैं कि कौन सी वृत्ति किस रस के अभिनय के अनुकूल होगी। किसी-न-किसी रूप में इन वृत्तियो का सम्बन्ध रसों के साथ-साथ प्रादेशिक वृत्तियो से भी था। इस प्रकार इस वृत्ति शब्द का प्रयोग प्रस्तुत अध्ययन की परिधि की दृष्टि से अपर्याप्त लगता है। साथ ही दूसरी आपत्ति 'वृत्ति' को 'लिंग्वोस्टाइल' के लिए प्रयोग करने के बारे मे उठ सकती है कि अभिधा, लक्षणा और व्यंजना को भी 'वृत्ति' नाम से पुकारा गया है। इस प्रकार 'वृत्ति' का कोई स्पष्ट और अवच्छिन्न अर्थ नहीं मिलता है। इसलिए रीति विज्ञान शब्द ही आज के 'लिंग्वो ... के सम्बन्ध में

उपयुक्त शब्द है। इसी प्रकार राजशेखर द्वारा प्रयुक्त 'प्रवृत्ति' शब्द भी अपर्याप्त है, क्योंकि यह मात्र वेष-विन्यासक्रम है[११], उसका संदर्भ शुद्ध रूप से दृश्य-अभिनय है।

सामान्य अमरीकी दृष्टि में 'स्टाइल' या 'रीति' के विचार के ऊपर ध्वन्यात्मिक वैशिष्ट्य पर या तो अधिक बल दिया गया है[१२] या चयनात्मक या व्याकरण भग-परक विशेषताओं पर[१३]। इस प्रकार वहाँ भाषा की सामान्य परिधि के भीतर नहीं, बल्कि उसके इर्द-गिर्द आने वाली अनाकस्मिक उक्तियों की भंगिमा को रीति के अन्तर्गत लिया गया है। उदाहरण के लिए—बोलने की काकु में अन्तर आने से, या किसी शब्द की पुनरावृत्ति से, या वाक्य में क्रम-भंग लाने से, या प्रत्याशित विशेषण के स्थान पर अप्रत्याशित विशेषण लाने से, जो एक प्रकार का वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है, उसको 'रीति' की विचार-कोटि में लाया जाता है, बशर्ते इस प्रकार की विशेषताओं का उपयोग केवल दिखलाने के लिए न हो, प्रेषणीय अर्थ के द्योतन के लिए एकमात्र सार्थक माध्यम के रूप में हो, क्योंकि इसी अर्थ में तो सामान्य भाषा से साहित्य की भाषा विलग कही जा सकती है।[१४] किन्तु इस प्रकार की सीमा 'रीति' के लिए बाँधना, 'रीति' को सामान्य से इतर मानना मात्र होगा और ऐसा मानने पर हमको रीति-विज्ञान के विश्लेषण के लिए काफी उलझा हुआ और बेसँभाल साँचा अपनाना होगा, क्योंकि तब जो कुछ सामान्य व्याकरण की अपेक्षाओं से छूट जाय, उसको जानने के लिए पहले व्याकरण की अपेक्षाओं को जानना आवश्यक हो जायेगा। इसके विपरीत यदि रीति-विज्ञान को एक विध्यात्मक साँचे के अन्दर रखा जाय तो उसका अपना स्वतंत्र व्याकरण प्रस्थापित किया जा सकेगा जो सामान्य व्याकरण का निषेध या खण्डन न होकर उसका अतिक्रमण करने वाला व्याकरण होगा। इसलिए विच्युति की अपेक्षा विध्यात्मक सोद्देश्य विधान को आधार मानकर यदि चला जाय, तो अधिक स्पष्ट और सार्थक रूप में यह विश्लेषण किया जा सकेगा। उदाहरण के लिये निम्नलिखित वाक्य लिया जा सकता है जो धनुष-भंग के प्रसंग में परशुराम लक्ष्मण को निर्देशित करके कह रहे हैं—

रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्।

अब इसके कुछ लगभग समानार्थक सामान्य व्याकरण-सम्मत वाक्य-पर्यायों का परीक्षण किया जाय—

१. यह लड़का देखने में इतना सुन्दर है, पर इतना कटुभाषी है कि इसका वध करना ही होगा।

२. दुख है कि ऐसे खूबसूरत लड़के के ऊपर मुझे हाथ उठाना होगा।

३. यह खूबसूरत लड़का अब जीवित नहीं रहेगा।

और अन्त में

४. कितना रमणीय यह क्षत्रिय कुमार था (जो ऊपर प्रस्तुत वाक्य का हिन्दी है

इन चारों वाक्यों में संदेश लगभग एक ही है, किन्तु जितनी संक्षिप्तता, प्रत्यग्रता और नुकीलेपन के साथ यही संदेश चौथे वाक्य के द्वारा अभिहित किया जा सका है, उतने अच्छे ढंग से पहले तीन वाक्यों के द्वारा नहीं। क्यों यह चौथा विधान सार्थक है? इसलिये कि केवल जीवित और वर्तमान वस्तु के संदर्भ में भूत काल की क्रिया का प्रयोग कर देने से एक साथ दो बातें ध्वनित होती हैं—पहली तो यह कि उसका जीवित न रहना उसी प्रकार सुनिश्चित है, जैसे कि वह घटना पहले से घट चुकी हो, और दूसरी यह कि 'रमणीयं' कहने से आशसा-प्रेरित अनुकम्पा की भावना ही प्रमुख रूप से अभिव्यक्त होती है। साथ ही अपने आप उसे न मारने की इच्छा होते हुए भी मारने की लाचारी 'क्षत्रिय-कुमार' कहने से द्योतित होती है, क्योंकि क्षत्रिय यदि युद्ध के लिए प्रोत्साहित करता है, तो उसकी चुनौती के जवाब में उसके साथ दूसरा व्यवहार संभव ही नहीं। इस प्रकार भाषागत रीतिविधान का यह बौद्धिक आधार व्याकरण के भीतर से ही उद्भूत है और व्याकरण की कोटियों को एक अतिरिक्त अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए है।[15]

अभी तक पुराने ढर्रे के रीति-विज्ञान में या उक्ति-वैचित्र्यपरक भाषाविज्ञान मे या अपनी भाषा का प्रयोग करें, तो अलंकार-शास्त्र में दो वस्तुओं के सादृश्य ढूँढते समय प्रतीति के ढंग पर बल दिया गया है। जैसे, यदि सुन्दर मुख का वर्णन करना हो, तो कई प्रकार से यह वर्णन कर सकते हैं—

१. चाँद सा मुखड़ा! (उपमा)

२. मुख-चन्द्र एकाएक उदित हुआ! (रूपक)

३ यह चाँद एकाएक कहाँ से दिखा? (रूपकातिशयोक्ति)

४. यह मुख तो चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है, क्योंकि यह निष्कलंक है। (व्यतिरेक)

५. यह मुख नहीं है, यह तो पूर्णिमा का चन्द्र है! (अपह्नुति)

६. क्या मैं मुख देख रहा हूँ या चन्द्रमा ही देख रहा हूँ? (सन्देह)

७. इस मुख के समान बस यही मुख है। (अनन्वय)

इस शास्त्र की दुर्बलता यह है कि इसमें इस प्रकार की उक्तियों का विश्लेषण ठीक-ठीक साधर्म्य को बतला कर समाप्त हो जाता है, इसकी चिन्ता यहाँ नही की जाती है कि संदर्भ के उपयुक्त कौन-सा विशेष प्रकार अधिक उपयोगी है या उपमा के स्थान पर रूपक, रूपकातिशयोक्ति, व्यतिरेक, सन्देह, अनन्वय—कौन सी अलकार-भंगिमा अधिक सार्थक होगी।[16] दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के विश्लेषण मे अलंकार का सतही व्याकरण तो है, किन्तु उनका आन्तरिक व्याकरण नहीं उपस्थित किया गया है, जबकि विध्यात्मक रीति-विज्ञान में इन तमाम प्रकार के सदृश उक्तिखण्डों में व्यतिरिक्तता या विकल्प ढूँढने मे अधिक बल दिया जाता है। एक सीधी सपाट सादृश्य-विधानात्मक उक्ति कभी-कभी अधिक पैनी हो सकती है। जैसे—

सुरभि सी सुकवि की सुमति खुलन लागी,
चिरई सी चिन्ता जागी जनक के हियरे।
धनुष पै ठाढ़ो राम रवि सो लसत आज
भोर कैसो नखत नरिन्द भये पियरे॥ (रघुनाथ वन्दीजन)

इसमें एक सांग-उपमा है। धनुष के ऊपर राम ऐसे लगते है, जैसे प्रभातकालीन सूर्य और दूर धूमिल पड़ते हुए राजा जैसे बुझते हुए नक्षत्र। इस प्रभात की सूचना दो चीजों से मिलती है—जनक के हृदय में एक चिन्ता जगती है, उसी प्रकार जैसे भोर में एक चिड़िया बोलती है। यह चिन्ता आने वाले दिन के कठोर यथार्थ की चिन्ता हो सकती है, राम के संघर्ष की चिन्ता हो सकती है, सीता के भागधेय की चिन्ता हो सकती है और तत्काल उपस्थित होने वाले राम-परशुराम-द्वन्द्व की भी चिन्ता हो सकती है। लेकिन यह चिन्ता कर्म को प्रेरित करने वाली चिन्ता है, जिस तरह चिड़िया का चहचहाना आदमी के लिए कर्म का आह्वान होता है। दूसरी सूचना मिलती है, प्रभातकालीन समीकरण के द्वारा सुरभि के फैलने से। राम के धनुषभंग के अनन्तर सुकवि की सद्बुद्धि प्रस्फुटित होने लगती है, क्योंकि राम के चरित्र के गान से ऐसे सुकवियों का कल्याण तो होगा ही, उनकी कृति के द्वारा और भी उससे सुवासित होंगे।

इस आधे छन्द मे उपमा के अतिरिक्त कोई दूसरी भंगिमा अर्थ को विवृत करने में समर्थ नहीं होती, क्योंकि यहाँ अभिप्राय उपमा के द्वारा खुलने वाले अर्थों को एक साथ स्पष्ट करना है। रूपक की भाषा यहाँ उपयोजित होती तो अर्थ सम्पुटित हो जाता और कवि का उद्देश्य अधूरा रह जाता।

एक दूसरा उदाहरण लिया जाय—महात्मा गांधी के मरने पर इस रूप मे उक्ति की प्रक्रिया अधिक सार्थक है—'सूर्य अस्त हो गया', बनिस्बत यह कहने के कि महात्मा गांधी रूपी सूर्य दिवंगत हो गये या महात्मा गांधी की मृत्यु से ऐसा लगता है, सारे देश में अंधकार छा गया हो, क्योंकि शोक की आकस्मिकता की अभिव्यक्ति के लिये जिस संक्षिप्त और तत्काल प्रभावित करने वाली उक्ति-प्रकार की आवश्यकता है, वह केवल 'सूर्य अस्त हो गया' इस रूपकातिशयोक्ति से ही सभव है।

सारांश यह कि व्याकरण की दृष्टि से क्या संगत है, क्या असंगत है, यह रीति-विज्ञान में अपेक्षाकृत कम महत्त्व रखता है, जितना कि विभिन्न विकल्पों के बीच में से उचित और अनुरूप विकल्प का विधान क्यों किया गया है, इसकी साभिप्रायता के लिए कुछ निश्चित सिद्धान्त निर्धारित करना।[१७] इसी मायने में प्राचीन भारतीय भाषा-संबंधी चिन्तन रीति-विज्ञान के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण अवदान प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी अवदान को विवृत करने का तथा आधुनिक चिन्तन से इसका समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया जायेगा।

पश्चिम में प्राय: 'लिंग्वोस्टाइलिस्टिक'-अध्ययन के अन्तर्गत लेखक-विशेष की शैली के अध्ययन अभी बहुत हाल तक किये जाते रहे हैं किन्तु इनमें सर्वमान्य वस्तु-निष्ठ पद्धति नहीं अपनायी जाती रही है और प्राय: ये अध्ययन अध्ययन-कर्त्ता की अपनी रुझान से प्रभावित रहे हैं या अध्येय लेखक की व्यक्तिगत विशिष्टताओं से, जिसके कारण किसी वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार सर्वग्राह्य प्रतिपादन सभव नहीं हो पाया है। वस्तुत: व्यक्ति की शैली को समझने से पूर्व भी यह आवश्यक है कि रीति-विज्ञान के विभिन्न उद्देश्यों और प्रकारों की सीमाएँ पहले निर्धारित की जायें। जोल्तान ने यह विचार प्रकट किया कि रीति-विज्ञान का क्षेत्र अधिकतम व्यापक बनाया जाना चाहिये और इसमें विभिन्न सम्प्रदायों और धारणाओं को सन्निविष्ट मानना चाहिये। उनके अनुसार रीति-विज्ञान के तीन स्तर हो सकते हैं—[१८]

१. भाषागत तत्त्व (ध्वनि, पद, प्रत्यय, प्रकृति, वाक्य-संरचना आदि, आदि) की रीतिपरक प्रयोजकता या दूसरे शब्दों में अर्थ-प्रकाशकता का अध्ययन।

२. किसी लिखित या भाषिक संदेश की रीति का विश्लेषण (किन्तु यह सदेश वास्तविक रूप में संलक्ष्य हो, वाचिक या लिखित माध्यम द्वारा); उदाहरण के लिये कविता, कहानी, भाषा आदि का रीति-विश्लेषण।

३. किसी संदेश-प्रकार-विशेष की रीति का विश्लेषण; यह प्रकार-विशेष उन तमाम विशेषताओं के समग्र योग के रूप में आकलित होते हैं, जो उस तरह के सभी संदेशों में प्राप्त होते हैं, उदाहरण के लिये वैज्ञानिक साहित्य का रीति-विश्लेषण या शुद्ध सर्जनात्मक साहित्य का रीति-विश्लेषण या काव्य-साहित्य का रीति-विश्लेषण।

यहाँ दूसरे और तीसरे स्तर के विश्लेषणों में एक मौलिक अन्तर है, यद्यपि दोनों भाषा-तत्त्व के विश्लेषण न होकर संदेश के ही विश्लेषण हैं, किन्तु इन दोनो मे अन्तर यह है कि दूसरे में संदेश एक ही प्रकार का है, अद्वितीय है, जबकि तीसरे मे विभिन्न संदेशों के उद्देश्यगत सामान्य लक्षण को आधार मानकर उनको एक समग्र रूप में देखा जाता है और इन तमाम प्रकार के संदेशों में समान रूप से पाये जाने वाले लक्षणों का अनुसंधान किया जाता है। पहले प्रकार के विश्लेषण में यद्यपि सम्बद्ध भाषागत रूप का कोई-न-कोई लेखक तो होता ही है और उसका उसमे निहित कोई-न-कोई संदेश भी होता है, वह संदेश किसी खास उद्देश्य से दिया गया भी होता है, किन्तु वहाँ मुख्य ध्यान संदेश देने वाले या संदेश के उद्देश्य या संदेश के प्रकार पर न होकर संदेश के वाहक भाषागत संरचनात्मक विन्यास और भाषा की आन्तरिक सम्बन्ध-स्थापना पर ही होता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र में चाहे ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुसार, चाहे रीति —— के अनुसार चाहे वक्रोक्ति —— के अनुसार चाहे अलंकार

सम्प्रदाय के अनुसार, चाहे औचित्य-सम्प्रदाय के अनुसार भाषा की रीति-गत विशेषताओं के विश्लेषण पर ही विशेष बल दिया गया है। उदाहरण के लिये *कालिदास* का एक श्लोक लीजिये[१९]—

तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ।
हिमानिष्यन्दिनी प्रातर्निवातेव वनस्थली ॥

इस श्लोक का कथागत संदर्भ यह है कि सीता-निर्वासन-पर्यन्त वाल्मीकि-प्रणीत **रामायण** का अंश अयोध्या की सभा में लव-कुश ने गाकर सुनाया है और उस काव्यगान के प्रभाव का वर्णन कवि ने इस श्लोक में किया है। सीधे सपाट रूप मे इन पंक्तियों का हिन्दी गद्य में यह अर्थ होगा कि उन दोनों द्वारा गाये गये आख्यान को एकाग्र भाव से सुनती हुई राजसभा में लोगों की आँखों से आँसू झरने लगे, जैसे कि किसी वनस्थली पर सुबह हवा थम जाने पर चुपचाप ओस की बूँदें तिप्-तिप् गिरने लगें। किन्तु जब हम इस श्लोक के काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या के लिए इसी के भाषागत तत्त्वों का भीतरी अभिप्राय देखने की कोशिश करते हैं तो इस उपमा की सतह के नीचे सबसे पहली बात दृष्टिगोचर होती है, 'वनस्थली' तथा 'संसद्' अर्थात् राजसभा की संवादिता। जीवित मनुष्यों के समुदाय को स्थावर वृक्षों के झुरमुट का संवादी बना देना ऊपरी सादृश्य के अलावा एक आन्तरिक सादृश्य भी द्योतित करता है और वह यह है कि काव्य-पाठ के ही कारण यह सभा विजडित हुई हो, ऐसी बात नहीं। यह सभा ऐसे व्यक्तियों की सभा है, जो सचमुच सीता जैसी एकनिष्ठ सती के प्रति अनुरूप व्यवहार न करने के कारण जंगली पेड़ की कोटि में ही आते हैं; जो केवल आखेट और शायद पशुओं की हिंसा के ही साक्षी होते रहते हैं। उपमा के और भीतरी स्तर में जाने पर दृष्टिगोचर होता है कि एकाग्रता की उपमा हवा के रुकने से दी गयी है। एकाग्रता में समस्त श्रवणेन्द्रिय-भिन्न ऐन्द्रिय व्यापारों का श्रवण में विलयन सूचित होता है; जैसे हवा के थमने से पेड़ की पत्तियों और शाखाओं का समस्त मर्मर पेड़ की निपट स्थिति में विलीन हो गया, यह स्थिति सूचित होती हैं। दोनों में एक प्रकार की निमग्नता और स्तम्भ की स्थिति सूचित होती है। इतना करुण आख्यान एकाएक, एकदम स्तम्भित और तल्लीन कर देता है, जैसे—हवा थमते ही पेड़, जो वैसे ही विजड़ित हैं, अब एकाएक और भी अधिक विजड़ित हो जाते हैं और पूरी वनस्थली के ऊपर एक सन्नाटा छा जाता है। आख्यान का प्रभाव ऐसा है कि कोई-एक दूसरे से आलोचना करे, प्रशंसा करे या एक-दूसरे की ओर देखकर ही कोई इंगित करे, इसका अवकाश नहीं रहता, क्योंकि कान ऐसे लगे रहते हैं कि बाहर गीत है और भीतर चुपचाप निर्वासन की ग्लानि की अकथनीय वेदना। हर आदमी अपने भीतर अपने को अपराधी मानता है, इसलिए हवा थमने पर जैसे हर पेड़ दूसरे पेड़ से अलग हो जाता है, अपनी डाली-पत्तियों से अलग हो जाता है. केवल पेड़ रह जाता है: उसी तरह

सभा का हर व्यक्ति इस आख्यान में मग्न होते-होते अपने में समाहित हो जाता है; सभा के भीतर रहते हुए भी अपनी निजी पीड़ा, अपनी निजी ग्लानि में डूब जाता है। तीसरे भीतरी स्तर में एक ओर एक क्रिया है 'बभौ' जिसका अर्थ है प्रतीत हुई, भासित हुई, दूसरी ओर उसके जोड़ में एक अव्यय है—'प्रातः'। 'प्रातः' का कोई दूसरा संवादी पहली पंक्ति में नहीं है और इससे स्पष्ट है कि काव्य-पाठ के प्रभाव के बाद जो सभा के सदस्यों के चित्त के कलुष का प्रक्षालन हुआ है और साथ ही साथ एक नये बोध-सम्पन्न चित्त का आभास हुआ है, वह प्रातःकालीन स्थिति से ही तुलनीय है, क्योंकि प्रातःकाल का सन्दर्भ एक पुनर्जीवन का, पुनर्बोधन का, पुनर्नवीकरण का सन्दर्भ है और ओस के चुपचाप झरने और आँसू की बूँदों के चुपचाप ढुलने की सार्थकता इसी संदर्भ में है कि और कोई स्पन्दन नहीं है, और कोई चेतना नहीं है, और कोई हलचल नहीं है, उस गहरे मौन में केवल आँसू और आँसू के गिरने की ध्वनि भी इतनी तीव्र हो गयी है कि सभा के सदस्य इस ध्वनि से ही चौंककर होश में आ जाते हैं और वनस्थली प्रातः की झलक से उद्भासित ओस की बूँदों से जाग पड़ती है।

यह तो उपमा की विभिन्न भीतरी तहों के खोलने से अर्थ का प्रकाशन हुआ। उसकी संरचनागत अन्य विशेषताओं को ध्यान से देखते समय लगता है कि पहली पंक्ति में एक लम्बा समास है—'तद्गीतश्रवणैकाग्रा'। इस समास-संरचना से यह सूचित होता है कि लव-कुश द्वारा प्रस्तुत काव्य-पाठ और उस काव्य-पाठ के एकाग्र भाव से ग्रहण में कहीं भी विच्छिन्नता नहीं, अपितु एक लम्बा नैरन्तर्य है। दूसरे चरण में केवल एक छोटा समास है—'अश्रुमुखी' 'संसद्' अलग है, 'बभौ' अलग है। अश्रुमुखी के अनन्तर 'संसद्' जो जुड़ी हुई है, होश में आने पर वही अलग-अलग हो जाती है। उसी तरह तीसरे चरण में एक लम्बा समास है—'हिमनिष्यन्दिनी', जिसमें नैरन्तर्य ओस के झरने में है; क्योंकि वहाँ काव्य-पाठ के प्रभाव के नैरन्तर्य का कोई सन्दर्भ नहीं, वहाँ संदर्भ है, ओस के लगातार झरने का। और जिस विशेषण के आगे सादृश्य-वाचक विशेषण 'इव' लगा है, वह विशेषण है 'निवाता' (निरुद्ध वात वाली)। इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरे बाहर के प्रभाव से केवल अपने में स्थित वनस्थली की स्थिति तुलनीय है काव्य-पाठ में एकाग्र सभा से। और जैसे 'बभौ' अकेले शब्द के रूप में ऊपर है, वैसे ही अकेले शब्द के रूप में दूसरे हिस्से में 'प्रातः' है। 'बभौ' समुदाय को व्यक्ति बना देता है, और प्रातः भी ओस की बिखरी हुई बूँदों को व्यक्तित्व प्रदान कर देती है। 'वनराजि' के स्थान पर वनस्थली का प्रयोग और 'अयोध्या' के पुरजन के स्थान पर 'संसद्' का प्रयोग एक दूसरी स्थिति सूचित करते हैं। 'स्थली' कहने से ज़मीन का द्योतन होता है और 'संसद्' कहने से समष्टिगत भावभूमि का द्योतन होता है। प्रभाव केवल व्यक्तियों पर पड़कर रह जाता तो वह अस्थायी होता, केवल पेड़ों पर पड़कर रह

जाता तो अस्थायी होता। ओस से पूरी ज़मीन सिंचती है और काव्य-प्रभाव से उमड़े हुए आँसुओं से भाव-भूमि सिंचित होती है, इस प्रकार यह समग्र प्रभाव स्थायी बन जाता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यह पूरी व्याख्या कवि के मन में शायद न रही हो और उनके मन में एक सदृश प्रकृति का सन्दर्भ एकाएक आ गया हो और अपनी बात के समर्थन में उन्होंने उसका उपयोग किया हो। इस पूरी व्याख्या की कल्पना तो *कालिदास* के ऊपर आरोपित की जा रही है। इस आपत्ति के उत्तर में दो चीजें कही जा सकती हैं; एक तो *कालिदास* के समग्र कृतित्व में इस प्रकार की सूक्ष्म अर्थाभिव्यक्ति मिलती है, इस संदर्भ में ही इस वर्णन को भी देखना चाहिये। दूसरी बात यह कि *कालिदास* ने किस उद्देश्य से इस प्रकार की रचना का विधान किया; उनके भीतर कौन से विचार थे; इसको जानने के लिए हमारे पास उनके प्रयुक्त शब्दों के अलावा और कौन-सा संदर्भ है और यदि इन्हीं शब्दों का सहारा *कालिदास* को समझने के लिए लेना है, तो इन शब्दों के साथ उस भाषा में जिन-जिन अर्थों का लगाव प्रयोग में मिलता है, उन अर्थों का यदि अध्याहार किया जाता है, तो यह कल्पना ही निराधार और अवास्तविक कैसे कही जा सकती है? साहित्य यदि सर्जनात्मक व्यापार है, तो साहित्य की पहचान भी सर्जनात्मक क्यों न मानी जाय।[२०]

इस उदाहरण से केवल इतना ही दिखलाना अभीष्ट था कि यद्यपि प्रथम स्तर पर अर्थात् भाषा के उपादानों के विश्लेषण वाले स्तर पर व्याख्या को पूरा संदर्भ देने के लिए दूसरे और तीसरे स्तर भी बीच-बीच में उपयोगी रहते हैं, व्याख्या की वैज्ञानिकता और समग्र दृष्टि से तार्किकता तीनों के योग से संभव होती है।[२१] यहीं पर प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र और आधुनिक रीति-विज्ञान के बीच सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

मैकिंटोश हिलिडे और ने **पैटर्न ऑफ़ लैंग्वेज** में 'स्टाइल' (रीति) के सम्बन्ध में विचार करते समय यह प्रश्न उठाया है कि किस रूप में और किस सीमा तक रीतिगत समस्याएँ भाषाविद् के विचार-क्षेत्र में आ सकती हैं। इस का समाधान करते समय उन्होंने कहा है कि रीति-विज्ञान की दृष्टि से मुख्य महत्त्व की बात यह है कि यदि किसी को किसी से एक निर्दिष्ट स्थिति के अनुरूप कुछ कहना है, तो स्वाभाविक रूप से अनेक सम्भावनाओं में से (जो कि समस्त भाषा की दृष्टि से सोची जा सकती हैं) केवल कुछ-एक सम्भावनाओं के चुनाव के लिए कारण ढूँढ़ना चाहिये; यह हो सकता है कि दूसरी सम्भावनाएँ दूसरी स्थिति में स्वीकार्य हों, पर जब तक कि वे प्रस्तुत स्थिति के अनुरूप नहीं होंगी, तब तक रचनाकार इन दूसरी सम्भावनाओं का परिहार ही करता रहेगा। हिन्दी से एक बहुत स्थूल उदाहरण लिया जाय—

(१) तीन दिनों से मैं बुखार में पड़ा हूँ।
(२) तीन दिनों से मैं ज्वर-ग्रस्त हूँ।
(३) तीन दिनों से मैं बुखार झेल रहा हूँ।
(४) तीन दिनों से मुझे बुखार आ रहा है।
(५) तीन दिनों से बुखार मुझे छोड़ नहीं रहा है।
(६) मेरी आँखों में ज्वर झाँक रहा है।
(बालकृष्ण 'नवीन' की कविता की पंक्ति)

मोटे तौर से इन सभी वाक्यों के सन्देश में कोई फ़र्क नहीं। इन वाक्यों में दो प्रकार के वाक्य हैं — एक, जिनमें व्याकरण की दृष्टि से कर्त्ता 'मैं' है और दूसरे, जिनमें व्याकरण की दृष्टि से कर्त्ता 'ज्वर' है। जिन वाक्यों में कर्त्ता 'मैं' है, उनमें भी केवल एक वाक्य में सकर्मक क्रिया के कर्त्ता के रूप में और शेष में अस्तित्व या सत्ता-वाचक कर्त्ता के रूप में 'मैं' का प्रयोग हुआ है और जिनमें व्याकरण की दृष्टि से कर्त्ता 'बुखार' या 'ज्वर' है, उनमें से एक में सकर्मक क्रिया का कर्त्ता है, एक मे अकर्मक क्रिया का, और शेष में अस्तित्व या सत्ता-वाचक क्रिया का। वक्ता की दृष्टि से, ज्वर के अनुभव के प्रकार की दृष्टि से और जिससे बात की जा रही है, उसकी दृष्टि से स्थितियाँ, अलग-अलग प्रकार के कथन की माँग करती हैं। जहाँ अनुभव करने वाला 'मैं' अनुभव की तीव्रता का अनुभव करता है, वहाँ 'मैं' कर्त्ता ही अधिक उपयुक्त है, किन्तु जहाँ अनुभव करने वाले को दबा देता है, वहाँ 'ज्वर' या बुखार का कर्त्ता होना अधिक उपयुक्त है। उसी प्रकार जहाँ अनुभविता ज्वर का कर्म होता है, वहाँ सकर्मक क्रिया के प्रयोग द्वारा 'मैं' ज्वर के विशेष लक्ष्य के रूप में जतलाया जाता है और जहाँ ज्वर या बुखार किसी दूसरे के प्रेरक कारण या विशेषण बन जाते हैं, वहाँ वे समास में गुणीभूत रूप में व्यक्त होकर ही अर्थवाहक होते हैं, या 'से', 'मैं' जैसे परसर्गों से युक्त होकर, तभी यह प्रतीति स्पष्ट हो सकती है। इनके अलावा जहाँ 'ज्वर' बाहरी उत्ताप के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार के भीतरी उत्ताप को भी साथ-साथ द्योतित करने के लिये आरोपित अर्थ में प्रयुक्त हो, या सम्बोध्य व्यक्ति उस उत्ताप के कारण के रूप में किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध हो, वहाँ—'मेरी आँखों में ज्वर झाँक रहा है'—ऐसी उक्ति अधिक सार्थकता रखती है।

इस उदाहरण-शृंखला से एक चीज़ स्पष्ट हो जाती है, कि रीति-विज्ञान के दो स्तर हैं : (१) ऊपरी व्याकरण-संरचना की सोद्देश्यकता के अन्वेषण का स्तर, (२) शब्दों के वाच्यार्थ से भिन्न लक्ष्यार्थ प्रतीत कराने के लिये क्या प्रयोजन हो सकता है, इसका विश्लेषण। काव्य-भाषा में एक तीसरा स्तर भी जुड़ जाता है। वह स्तर है, लय-बोध का। यह लय-बोध श्रव्यगुण के रूप में ध्वनि-व्यवस्था के के द्वारा, यतियों के द्वारा (कभी-कभी यतिभंगों के द्वारा भी), बलाघात या सुरा-

घात के द्वारा तथा आंशिक भीतरी या बाहरी तुकों के द्वारा और इससे भी अधिक एक शब्द या पद-बन्ध या प्रत्यय, या एक प्रकार की संरचना की पुनरावृत्ति के द्वारा या उस पुनरावृत्ति में भंग के द्वारा भी सार्थकता का एक नया आयाम जोड़ देता है, किन्तु इस तीसरे आयाम को पकड़ने के लिये विश्लेषणीय सामग्री विपुल मात्रा में उपलब्ध होनी चाहिये। विपुल मात्रा का अर्थ यह है कि या तो कोई पूरी कविता सामने हो, या पूरी कहानी या निबन्ध, या पूरा भाषण ही सामने हो, या और भी व्यापक पैमाने पर पूरा सर्ग या अध्याय या पर्व या स्कन्ध या पूरी-की-पूरी कृति, महाकाव्य या उपन्यास सामने हो।

रीतिविज्ञान-परक व्याख्या का उद्देश्य जीवन का निषेध या खण्डन या उपेक्षा नहीं है, वरन् जीवन का भाषिक संकेतों में किस प्रकार एक ऐसा अमूर्तीकरण स्थापित किया जा सकता है, जिस बिन्दु पर कवि और सहृदय पाठक दोनों मिल सकते हैं—यही दिखलाना उस व्याख्या का मुख्य ध्येय रहता है। भाषिक-संकेत इस प्रकार जीवन-निरपेक्ष नहीं होते, किन्तु इनके आपसी सम्बन्ध भाषा के अनुभव से ही साक्षात् परिचालित होते हैं[२२]; वैसे यह अलग बात है कि भाषा अपने संकेत मे निहित समग्र जीवन की अधिकतम सम्भावना की पहचान में ही प्रतिभासित होती है। काव्य-भाषा और सामान्य-भाषा में अन्तर सामान्य और विशेष का नहीं, अन्तर है, दोनों के एककेन्द्रिक और बहुकेन्द्रिक होने में। सामान्य-भाषा केवल संदेश-केन्द्रिक है। उसके संदेशों में तब तक हेर-फेर हो सकता है, जब तक उसके द्वारा गृहीत कराये जाने वाले संकेत न बदलें; किन्तु इसके विपरीत काव्य-भाषा में संकेतित अभिप्राय और संकेत— दोनों केन्द्रभूत बने रहते हैं; क्योंकि हर संदेश की अद्वितीयता उसके ग्राहक अद्वितीय संकेत से सम्पन्न होती है और हर संकेत की भी अद्वितीयता उससे गृहीत संदेश की अद्वितीयता से और इसके अलावा स्वयं संदेश भी एक साथ कई स्तरों पर कई छटाएँ धारण करता है और प्रत्येक स्तर पर एक नया अर्थ-केन्द्र बन जाता है। हाँ, यह जरूर है कि बहु-केन्द्रिकता को ठीक-ठीक समझने के लिये सामान्य-भाषा की सम्भावना की सही पहचान पहली शर्त है।

उदाहरण के रूप में दो कविताओं की एक व्याख्या प्रस्तावित है। यह व्याख्या किसी साँचे में ढली हुई तो नहीं है, न किसी साँचे को ही स्थापित करने का दावा करती है; पर यह व्याख्या कविता और उसकी बहुकेन्द्रिक भाषा को एक सजीव संरचना मानकर की गयी है। आखिर 'कविहिं एक आखर बल सांचा', हर नया अनुभव, जानी हुई भाषा में उतरने से इन्कार करता है, पर साथ ही हर नयी भाषा उस अनुभव को उतारे बिना रह नहीं पाती[२३], इस तनाव को भी तो भाषा ही व्यक्त करने का एक मात्र साधन है। आधुनिक कविता ही नहीं, हर अच्छी कविता इस प्रकार के तनाव से होकर गुजरती है और उसको समझने के लिये पुराने आजमाये हुए पैमाने बेकार साबित होते हैं और उस कविता को, उसी के माध्यम

, बार-बार उसके एक-एक उपादान को जोड़ते-तोड़ते हुए ही समझा जा सकता है।

उदाहरण के लिये कुँवरनारायण की **रोज़ की तरह** कविता द्रष्टव्य है :

रोज़ की तरह
अशान्ति, धुआँ और बेबसी :
सिगरेट पीता हुआ आसमान,
उमड़ते बादलों के छल्ले
बेज़ुबान।
लाल, काले, नील रंग घुले-मिले,
तेज़ शराब की तरह
मेज़ पर लुढ़की हुई शाम में
धीरे-धीरे डूब गया दिन
औंधे मुँह
रात गये
कंधे पर लाद
कोई कमरे में डाल गया
रोज़ की तरह
आज भी।

(परिवेश—हमतुम)

रोज़ की तरह कविता में पहली पंक्ति पूर्व वाली और अंतिम पंक्ति (अशतः) — ये दोनों सतह पर 'अशान्ति, धुँआ' और 'बेबसी' शीर्षक के रूप में प्रतीत होती है; क्योंकि उसके बाद आने वाली पंक्तियाँ 'अशान्ति', 'धुआँ' और 'बेबसी' की चित्रात्मक व्याख्याओं के रूप में प्रस्तुत होती हैं; किन्तु एकाएक कविता के अन्त में दो पंक्तियाँ आती हैं—

रोज़ की तरह
आज भी।

और पहले शीर्षक के ऊपर यह शीर्षस्थ हो जाती है, जिससे कविता का यह अभीष्ट सिद्ध हो कि 'अशान्ति', 'धुआँ' और 'बेबसी' अपने-आप में उतने तीखे अनुभव की सृष्टि शायद न कर पायें, लेकिन उनका ऐसा पुनरावर्त्तन कि वह दैनन्दिन-क्रम की चीज़ बन जाये, आधुनिक-जीवन की दु:सह, एकरस उदासी का प्रभाव अधिक तीव्र कर देता है।

इस कविता के दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में एक बेचैन आदमी के सिगरेट पीने से धुएँ के छल्लों के निरन्तन आवर्त्तन की प्रक्रिया का बिम्ब उपस्थित किया गया है और उस बिम्ब को समष्टि-जीवन की व्यापक बेचैनी के साथ जोड़ने के लिये आसमान का रूपक जोड़ दिया गया है, पर मूल में आधुनिक बेचैनी की अत्यन्त

परिचित प्रतिभा है—भीतर के तनाव और भीतर की परेशानी को निरन्तर सिगरेट पीते रह कर भूलने की कोशिश करना और भीतर के धुएँ से ध्यान खींचने के लिए बाहर के धुएँ की आकृतियों में अपना ध्यान खोने की कोशिश करना और कभी सफल न होना, इस नकली उपाय के अलावा दूसरा उपाय न पाने की लाचारी और फिर उसी चक्कर में पड़ना-- 'अशान्ति', 'धुआँ' और 'बेबसी'।

आज की बेचैनी जिस प्रकार निराकार, निरुद्देश्य और दिशाहीन है, उसे रूपायित करने के लिये स्याह, सलेटी आसमान जैसा आरोप्यमाण ही सबसे उचित लगता है और धुएँ के छल्लों को अर्थगर्भता प्रदान करने के लिये (चाहे अपने आप में वह अर्थ ही, स्वयं कितना भी निःसार क्यों न हो?) शाम के छल्लेदार रूप में उभरे हुए बादल इस आसमान के अंगीभूत बनाकर लाये गये हैं।

पहले खण्ड की अन्तिम पंक्ति है-- 'बेजुबान'। यह विशेषण दोनों से जुड़ता है--'आसमान' से भी और 'बादलों के छल्ले' से भी। आसमान 'बेजुबान' इसलिए है कि उसके भीतर की बेचैनी धुआँ बनकर रह जाती है; न कुछ द्योतित कर पाती है, न कुछ जला पाती है; दूसरे शब्दों में—न तो रोशनी दे सकती है, न कोई ऐसी चीज़ जो सब कुछ भस्म कर सके। छल्ले 'बेजुबान' इसलिए कि इन आकारों में रचकर भी न तो भीतर की अशान्ति का विस्मरण करा पाते है, न भीतर की कोई घुमड़न को कोई भाषा दे पाते हैं और यही विशेषण 'बेबसी' की परिणति सूचित कर देता है।

कविता के दूसरे खण्ड में कुछ अधिक मूर्त्त और साथ-ही-साथ अधिक संश्लिष्ट आकृतियाँ आती हैं। 'शाम' की एक रंगीन खुमारी का चित्र है; कई तरह की, कई रंग की, कई मेल की शराबों की 'कॉकटेल', जिसमें उत्तरोत्तर रंगों का घनापन और नशे की तेजी—दोनों बढ़ते जाते हैं; इसलिये क्रम है, लाल, काले, नीले। बीच में काले रंग को डाल कर, दो छोरों—लाल और नीले—के बीच सपाट ध्रुवीकरण स्थापित किया गया है।

'शाम' के उपमान के रूप में मेज पर लुढ़की शराब का उपयोग इस मायने मे उल्लेखनीय है कि शराब और शाम भिन्न वस्तुएँ हैं; बिल्कुल एक नहीं हैं---जैसे आसमान सिगरेट पीने वाले आदमी से एकाकार हो कर अभिन्न लगा था। 'शाम' शराब की तरह क्षितिज पर अवश्य पड़ी हुई है, और पँचमेल शराब की तरह वह रंगीन होते हुए भी गहरे अन्धकार के नशे में गर्क है, फिर भी वह शराब नहीं है, उसकी सत्ता शराब से स्वतन्त्र और विलग भी है, इसलिये उसमें डूबने वाला कोई सामान्य व्यक्ति नही होता। उसमें दिन डूबता है, दिन जो सूर्य की यात्रा का परिमाप है, शराब में तो ऐरे-ग़ैरे भी डूब सकते हैं।

रूपक के स्थान पर उपमा के प्रयोग के अलावा दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि जहाँ पहले खण्ड में वर्त्तमान-कालिक कृदन्त ('बीता हुआ') का प्रयोग है, वहाँ

दूसरे खण्ड में भूत-कालिक कृदन्त (लुढ़की हुई, डूब गया, गत, गये, डाल गया) प्रमुख हैं। यह स्पष्ट रूप में सूचित करता है कि जहाँ पहला खण्ड उदासी की एक प्रक्रिया के रूप में देखता है, वहाँ दूसरा खण्ड उसीको एक सिद्ध वस्तु के रूप मे प्रतीत कराकर और अधिक दुःसह स्थिति का बोध कराता है; क्योंकि इसमें कहीं परिवर्तन की गुँजाइश नही है—इसलिये अन्त में है—

रोज़ की तरह
आज भी।

दूसरे खण्ड में दिन का एक पूरक विधेय के रूप में प्रयुक्त एक क्रिया-विशेषण है –'औंधे मुँह'। इस विशेषण को वाक्य के अपेक्षित क्रम में 'डूब गया' के पहले आना चाहिये था और 'दिन' के बाद आना चाहिये था; लेकिन 'क्रिया' के ठीक बाद आता है 'दिन'; और 'दिन' के ठीक बाद आता है 'औंधे-मुँह'। इस क्रम-विच्छेद का विवक्षित तात्पर्य्य यही हो सकता है कि 'शाम' 'अधिकरण' के तुरन्त बाद, तत्काल ही 'कर्त्ता' की अपेक्षा 'अधिकरण' की प्रमुखता को घोषित करना है, साथ ही बीच में एक क्रिया-विशेषण 'धीरे-धीरे' देकर 'डूब गया' की आकस्मिकता का आघात बचाना है; 'दिन' के बाद 'औंधे-मुँह' को अलग पंक्ति में रखने का तात्पर्य यह है कि 'डूबना' और विशेष रूप से 'धीरे-धीरे' 'डूबना' मुख्य था, दिन कैसे डूबा, यह बाद की टिप्पणी-मात्र है; क्योंकि 'सीधे मुँह' रहता, तो भी वह 'डूबता' ही, अन्तर इतना ही होता कि उसका प्रकाश कुछ देर और भी लरजा रहता।

इसी खण्ड में बिना किसी अल्प-विराम के प्रयोग के और बिना किसी उपवाक्य के या बिना संयोजक सर्वनाम 'उसे' का प्रयोग किये, एकदम अलग बात और भी अधिक संश्लिष्ट ढंग से कही गयी है—ऐसी शाम में ऐसे डूबे हुए दिन को जिसका मुख भी औंधा हुआ हो, साफ पहचान में आने से डरता हो, बहुत रात बीतने पर लाद कर 'कोई' अदृश्य अव्याख्येय व्यक्ति या व्यक्ति का आभास कमरे में डाल गया। यह कोई नयी या अपने क़िस्म की पहली घटना नहीं है; 'रोज़' ऐसा होता रहा है, आज उसकी पुनरावृत्ति हुई है।

इसी प्रकार 'आसमान' और 'बादलों' की सक्रियता के साये में एक निश्चेष्टता का और उस निश्चेष्टता के आगे एक विवश आत्म-समर्पण का और उस आत्म-समर्पण के अलग विस्थापन का घटनाक्रम उपस्थित किया गया है; मानो यह सूचित करने के लिये कि उदासी भी एक सक्रियता को जन्म देती है, पर सक्रियता एक रंगीन नशा लाती है, और उस नशे में सृजन या अभिव्यक्ति की व्याकुलता सिंचती चली आती है अवश होकर। परिणति उसकी वही होती है, जो बेज़ुबान, बेहोश और सजीव व्यक्ति की होती है, जिसे कोई अनुकम्पावश कहीं ग़लत जगह गिरा देखकर अपने कन्धे पर लाद कर किसी कमरे में लिटा दे।

आज की संवेदनशील सर्जना का जो प्रतिदिन अवश्यम्भावी परिणाम है, वह इस क्रम की दुर्निवारता के कारण और अधिक दुरन्त प्रतीत हो, इसलिये कविता के शीर्षक 'रोज की तरह' के बाद यह 'आज भी' पंक्ति जोड़ी गयी है। अपने-आप में यह शीर्षक ही पूरे क्रम को एक विसंगति के चरम उत्कर्ष तक पहुँचा देता है, लेकिन उस उत्कर्ष का तीखापन इस क्रिया-विशेषण 'आज भी के' द्वारा और भी अधिक करकने लगता है।

दूसरे खण्ड में 'रात गये' से जो अंश 'उसे' सर्वनाम छोड़कर शुरू होता है, वह इसीलिये कि 'अशान्ति', 'धुआँ' और 'बेबसी' के पूरे चक्कर को अत्यन्त सामान्य, दयनीय और उपेक्षणीय स्थिति के रूप में स्वीकृत कराना कवि का मुख्य प्रयोजन है, इसलिए यह कहने के लिये स्वतंत्र खण्ड या पृथक् प्रतीयमान उपवाक्य नहीं लाया जाता; मानो पहली घटना की रील के ऊपर ही दूसरी रील चढ़ा दी गयी हो, जिससे बीच की घटना ही अस्मिता अपने-आप धुँधली पड़ जाय।

इस प्रकार तर्कसंगति की दृष्टि से, यद्यपि इस कविता के तीन खण्ड होने चाहिएँ, पर दो खण्डों में ही रखकर कविता की सोद्देश्यकता अधिक प्रखर रूप मे सामने आती है; क्योंकि वस्तुतः संवादिता इन्हीं दो खण्डों में है; एक खण्ड सायास सचेष्टता है, दूसरा अनायास निश्चेष्टता। एक प्रक्रिया है, दूसरा निष्पन्नता, एक निराकार और अव्याख्येय है, दूसरा मूर्त्त और बहुत सामान्य। तीसरा खण्ड इन दोनों की टकराहट में अपने-आप गम्य हो जाता है, उसकी अलग अभिधा अनावश्यक है।

दूसरी कविता *केदारनाथ सिंह* की 'खोल दूँ यह आज का दिन' है :

खोल दूँ यह आज का दिन,
जिसे
मेरी देहरी के पास कोई रख गया है
एक हल्दी-रंगे
ताजे
दूरदेशी पत्र-सा !

थरथराती रोशनी में
हर संदेशे की तरह
यह एक भटका संदेशा भी
अनपढ़ा ही रह न जाये,
सोचता हूँ
खोल दूँ।
इस सम्पुटित दिन के सुनहले पत्र को

जो द्वार पर गुम-सुम पड़ा है
खोल दूँ !

पर एक नन्हा-सा
किलकता प्रश्न आकर
हाथ मेरा थाम लेता है !
कौन जाने क्या लिखा हो !
(कौन जाने अँधेरे में···
दूसरे का पत्र मेरे द्वार कोई रख गया हो !)
कहीं तो लिखा नहीं है
नाम मेरा,
पता मेरा
आह, कैसे खोल दूँ !

हाथ
जिसने द्वार खोला,
क्षितिज खोले,
दिशाएँ खोलीं,
न जाने क्यों इस भटकते,
मूक, हल्दी-रंगे, ताजे
किरण-मुद्रित संदेशे को
खोलने में काँपता है !

(अभी बिल्कुल अभी)

'खोल दूँ यह आज का दिन' शीर्षक कविता चार भागों में विभक्त है। पहले भाग में 'खोल दूँ' एक बार; दूसरे में दो बार; तीसरे में एक बार और चौथे में 'खोलना' क्रिया के चार भिन्न रूप (पर **खोल दूँ** से भिन्न) आये हैं।

इससे स्पष्ट है कि इस कविता में 'खोलने' के अभिप्राय का पुनरावर्त्तन विशेष महत्त्व रखता है। पहले तीन भागों में प्रत्येक में **खोल दूँ** के बाद एक विस्मय-वाचक चिह्न लगा हुआ है; मानो खोलने की बात ऐसी है कि जैसे कोई अघटित घटना घटने जा रही है। पहले भाग में उत्सुकता है, दूसरे भाग में चिन्ता है, तीसरे में असमर्थता है और चौथे भाग में खोलने के विवश नतीजे के आगे हार मानने की स्थिति है; किन्तु अन्त तक खोलने की उत्कण्ठा दबाये नहीं दबती और कविता जैसे खोलने की वासना लिए ही समाप्त हो जाती है।

शीर्षक में **खोल दूँ** का कर्म है—'आज का दिन'। इसे पत्र में पहले भाग में

व्यक्त किया गया है और दूसरे, तीसरे, चौथे भागों में इस पत्र या पत्र में निहित संदेश को ही अधिक बार दुहराया गया है।

'दिन' के प्रथम उपमान 'हल्दी-रंगे ताज़े दूरदेशी पत्र' की व्याख्या दूसरे भाग मे 'सम्पुटित दिन के सुनहले पत्र' (जो द्वार पर गुमसुम पड़ा है) के रूप में है, तीसरे भाग में 'कौन जाने अँधेरे में दूसरे का पत्र मेरे द्वार पर कोई रख गया हो'—के रूप में एक अजनबी आशंका का आश्रय बन कर उपस्थापित हुई है और चौथे में इन सबका समाहार करते हुए विशेषणों की एक लड़ी आती है—'महकते, मूक, हल्दी-रंगे, ताज़े, किरण-मुद्रित संदेशे को'। इसमें नया विशेषण केवल 'महकते' है। 'मूक', 'गुमसुम पड़ा है' का पर्याय है। 'किरण-मुद्रित' 'सम्पुटित' दिन के सुनहले-पत्र का संक्षिप्तीकरण है। ध्यान देने की बात है कि पत्र के तीसरे भाग मे अभिव्यक्त उस आशंका या कुतर्क को कि पत्र कहीं दूसरे का न हो, चौथे भाग मे समाहार करते हुए एकदम दबा दिया गया है। 'महकते' जोड़ने का अर्थ 'पत्र' का अर्थात् 'नये दिन' का दुर्निवार आकर्षण, जो शुद्ध रूप से पार्थिव आकर्षण है, उभारना है और तीसरे भाग की आशंका को दबा कर जतलाया गया है कि महत्त्व इसका नहीं है कि पत्र मेरे नाम है, या किसी दूसरे के नाम है; महत्त्व इसका है कि उसको खोलने का मुझमें साहस नहीं। उत्कण्ठा कितनी भी क्यों न हो, यह साहस उस हाथ को नहीं है, जिसने 'द्वार खोला', 'क्षितिज खोले', 'दिशाएँ खोलीं'। 'दिन' प्रत्यक्ष ही एक चुनौती के रूप में, एक निमन्त्रण के रूप मे और एक मांगलिक आवाहन के रूप में सामने आता है, किन्तु इस चुनौती को स्वीकार करने की या इस मांगलिक निमन्त्रण का दायित्व निभाने की हिम्मत नहीं है। क्यों? इसका उत्तर दूसरे भाग से प्रारम्भ होता है। अब तक हर संदेश की यही नियति रही है कि वह अनपढ़ा रह गया, क्योंकि रोशनी थरथराती रही है और यह नया दिन तो आकस्मिक रूप से भटके हुए निमन्त्रण के रूप में प्राप्त हुआ, जिस पर सहसा विश्वास भी तो नहीं किया जा सकता। ऊपर के लिफाफे मे और भीतर के संदेश में संगति हो, इसी पर विश्वास नहीं रह गया है, क्योंकि अब तक जो भी संदेश मिले हैं, वे किसी आशंका के द्योतक रहे हैं, कितने भी सुनहले क्यों न हों, किन्तु सम्पुटित मुहरबन्द। इसलिये इस नये संदेश को खोल कर देखने की उत्सुकता तो है, पर अविश्वास के चिर अभ्यास को तीसरे भाग मे एक और सहारा दिया जाता है—

> **कहीं तो लिक्खा नहीं है**
> **नाम मेरा,**
> **पता मेरा।**

कह कर। 'लिक्खा' का संयुक्ताक्षर बालाघात का सूचक है।

ऊपर से सुनहले दिखने वाले 'दिन' के गर्भ में क्या छिपा है- इसकी आशंका

इतनी तीव्र है कि द्वार खोलने वाला, क्षितिज खोलने वाला, दिशाएँ खोलने वाला 'हाथ' नये दिन के यथार्थ को खोलते समय काँपने लगता है, क्योंकि यह यथार्थ बीते दिनों से अधिक भयावह हो सकता है और भयावह न भी हो, तो भी एकाएक मांगलिकता की ऐसी आशा भी अपरिचित और आकस्मिक होने के कारण अप्रतीति को ही जन्म देगी, यह मन में धारणा बँधी हुई है। इसीलिए 'खोल दूँ' यह सम्भावनात्मक क्रिया-रचना अतीत-बोधक क्रिया-रचना में परिणत होते-होते अन्त में 'खोलना' की संज्ञा-रचना में परिणत हो जाती है, साध्यावस्था से सिद्धावस्था में परिणत हो जाती है। आधुनिकता-बोध की प्रक्रिया एक ठहरे हुए अवशबोध (ट्रेजिक सेन्स) में आकर समाप्त हो जाती है।

पूरी कविता में ऐसी कुल तीन पंक्तियाँ है, जिनमें केवल एक-एक शब्द है—दूसरी पंक्ति में 'जिसे', पाँचवी पंक्ति में 'ताजे' और छब्बीसवीं पंक्ति में 'हाथ'। इससे यह स्पष्ट है कि तीनों शब्दों का कविता में केन्द्रीय महत्त्व है। 'जिसे' 'आज के दिन' को जोड़ता है 'मेरी देहरी पर कोई रख गया है' से, अर्थात्—दिन और भी आते रहे हैं, पर ऐसा दिन, जो मेरी देहरी के पास, मेरे दरवाजे पर आया हो, वह केवल 'आज का दिन' है और सारी समस्या इस दिन को खोलने की है, जो 'मेरी' निजता से जुड़ा है। यह 'दिन' आधुनिकता से 'मेरी' मुठभेड़ का का दिन है, इसलिये वह 'ताजा' है और 'ताज़ा' कहने से किसी दूसरे के 'हाथ' नहीं लगा है। यह 'मेरे' ही द्वारा पहले-पहल छुआ जाने वाला है, गहा जाने वाला है, खोला जाने वाला है और यह प्रक्रिया ज्ञानेन्द्रियों से सम्पन्न नहीं होती, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ केवल अभ्यास ही कराती हैं। यह प्रक्रिया तो कर्मेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियो में भी केवल 'हाथ' से सम्पन्न होती है, 'हाथ' से, जिसमें आक्रामक और रक्षक दोनों शक्तियाँ निहित है, जो लेता भी है और देता भी है, जो उठता भी है और उठाता भी है, जो स्वयं खुलता है और तमाम बन्द चीज़ों को खोलता भी है, इसलिये 'हाथ' चौथे भाग का शीर्षस्थ होकर अकेले एक पंक्ति में फैला हुआ है। कवि-कर्म पराये अनुभव को दुहराने या नये अनुभव के लिये नक्शा बनाने तक ही सीमित नहीं रहता। वह अप्रतीति के संकट से गुजरने की पूरी सिहरन झेल कर ही निष्पन्न कवि-कर्म कहा जा सकता है।

उत्तर रामचरित नाटक की लीक पर चलने वाले आलोचक करुणान्त नाटक के रूप में स्वीकार नहीं करते और सोचते हैं कि सीता से मिलन तो हो जाता है, इसलिये नाटक सुखान्त ही है। वे यह नहीं सोचते कि मिलन के प्रति किस प्रकार का रागात्मक संबंध दिखलाया गया है। इस मिलन के प्रति राम की प्रतिक्रिया है

सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्येमि।

अर्थात्—मेरे सामने साक्षात् भागीरथी सीता को लेकर उपस्थित है और निर्वासन के प्रति (बारह) वर्षों तक तटस्थ रहनेवाले लोग-बाग भी लज्जित होकर

जय-जयकार कर रहे हैं। मैं यह सब अनुभव कर रहा हूँ, पर मुझे विश्वास नही होता कि यह सत्य है। भारतीय चिन्तन में आधुनिकता का बोध इसी अप्रतीति के अनुभव की सिहरन से जुड़ा हुआ है, किन्तु यह अप्रतीति भी अपनी है, तटस्थ दर्शकों की नहीं और मंगलाकांक्षी-हितैषियों की भी नहीं। यथार्थ की सही पहचान 'चीन्हे हुए चोर' की तरह 'अपडर' का कारण बन जाती है और इस 'अपडर' से डरने की प्रक्रिया ही यथार्थ के वास्तविक साक्षात्कार की प्रक्रिया है, क्योंकि 'डर' न हो तो मुक्ति परायी ही होगी। इस दृष्टि से 'खोल दूँ—यह आज का दिन' कविता का स्वर यथार्थ के वास्तविक साक्षात्कार का स्वर है। यदि वह सहमा हुआ है, तो यही उसकी मानवीय सहजता है।

कविता की व्याख्या के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये जाते रहे हैं। पूर्व और पश्चिम में दोनों जगह एक प्रकार की व्याख्या कवि को कवि के परिवेश में रखकर की जाती है, और उस प्रकार की व्याख्या ने ही कविता के विभिन्न प्रकार के वादों की संज्ञाएँ दी हैं—यथार्थवाद, छायावाद, प्रतीकवाद, धनवाद, विम्बवाद, अतियथार्थवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, अस्तित्ववाद—आदि, आदि। इस प्रकार की व्याख्या में कवि की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती है, इसलिये कभी-कभी इस प्रकार की व्याख्या के लिये कवि के स्वयं का वक्तव्य बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार की व्याख्या की उपयोगिता यही है कि पाठक अपने को किसी विशेष कवि से जोड़ लेता है और उसे दूसरे कवियों की रचनाएँ उतनी नहीं जँचतीं।

एक दूसरे प्रकार की व्याख्या की भी परम्परा रही है—इस देश में और सुदूर पूर्व के देशों में बहुत पुरानी और पश्चिम में अपेक्षाकृत कुछ नयी – जो कवि को केन्द्र में न रखकर कविता को अपने में पूर्ण मानकर चलती है। इस प्रकार की व्याख्या में कवि और उसका परिवेश दोनों गौण हो जाते हैं। इनकी अभि-व्यक्ति वहीं तक सार्थक मानी जाती है, जहाँ तक कविता में प्रयुक्त शब्द उसके संवादी वाक्य या व्यंग्य रूप में देखे जा सकते हैं।

भारतीय काव्यास्वादन की परम्परा में इस प्रकार की व्याख्या में प्रत्येक कविता के भीतरी अर्थ को उन्मीलित करने वाले एक शब्द या एक उचित-खण्ड को खोजकर निकाला जाता रहा है, पुनः उस एक शब्द की कुंजी के द्वारा समग्र अर्थ को खोलने की कोशिश की जाती रही है। उस एक शब्द या एक पद-बन्ध के माध्यम से कविता की संरचना के भीतर जो विभाजनीय खण्डों के बीच संगति या विसंगति-शृंखलाएँ दीखती हैं, उन शृंखलाओं में एकसूत्रता स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता रहा है। 'रीति', 'ध्वनि', 'वक्रोक्ति' या 'औचित्य' के विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा इसी प्रकार की व्याख्या की भूमिका तैयार की गयी है, यद्यपि प्रायोगिक रूप में इन सिद्धान्तों के अनुसार व्याख्या मौखिक अनुश्रुति में ही अधिक

सुरक्षित रही है, कहीं-कहीं ही केवल कुछ संकेत साहित्य-शास्त्र की इनी-गिनी टीकाओं मे मिलता है, नहीं तो टीकाओं में अधिकतर भाषागत सतही विश्लेषण ही मिलता है और उस विश्लेषण की नीरसता के कारण कवि-केन्द्रित व्याख्या का नया जादू हिन्दी में बहुत जल्दी इतना प्रभावशील हो गया और बहुत दिनों तक आलोचकों और कविता के पाठकों को अभिभूत किये रहा है।

विगत दशक मे आधुनिक भाषा-विज्ञान में अर्थ के ऊपर विशेष बल देने की जो प्रवृत्ति सामने उभरी है और सतही-संरचना और भीतरी-संरचना के बीच तालमेल स्थापित करने वाले भाषाई सूत्रों की तलाश शुरू हुई है, उसने पश्चिम मे काव्य-शास्त्र को ऐसा नया मोड़ दिया है, जो निरा बाह्य रूपवादी नहीं है और न वह जीवन-निरपेक्ष ही है। इसे क्रोचे के काव्य-दर्शन से संबद्ध नहीं माना जा सकता, इसमें सोवियत संघ, चेकोस्लोवाकिया, इंग्लैंड, अमेरिका आदि सभी प्रमुख भाषा-शास्त्र के केन्द्रों के विचारक काव्य-भाषा के विश्लेषण के द्वारा काव्यार्थ को पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं और काव्य-भाषा के विभिन्न स्तरों (अर्थ, वाक्य, पद, रूप, वर्ण) पर ऊपरी और भीतरी सम्बन्धों के तनावों का अध्ययन करके किसी भी काव्य-कृति या साहित्य-कृति में निहित छन्द (छिपी हुई लयात्मकता को ध्वनि से अधिक अर्थ के रूप में) को स्थापित करने का यत्न कर रहे हैं। इसकी हवा अपने यहाँ भी पहुँची है और बहुत विनम्र पैमाने पर, अधिकतर हिन्दी में ही, केन्द्रीय हिन्दी-संस्थान और राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थान के तत्त्वावधान में आयोजित संगोष्ठियो और शिक्षण-शिविरों में रीति-विज्ञान या शैली-विज्ञान नाम से कविता की व्याख्या के लिए भाषा-शास्त्र की एक शाखा का सैद्धान्तिक और प्रायोगिक प्रतिष्ठापन हो रहा है।

यह स्वीकार करना चाहिए कि रीति-विज्ञान-परक विश्लेषण का कोई सर्व-मान्य ढर्रा अभी तक निर्धारित नहीं किया जा सका है, किन्तु यह रीति-विज्ञान की कमज़ोरी का नहीं, उसमें और गहरे अन्वेषण की संभावना का ही प्रमाण है। इस वैविध्य के पीछे उद्देश्य यह है कि अतिशय की प्रवृत्तियों से बचा जाय। एक अतिशय की प्रवृत्ति है, जो यह मानकर चलती है कि प्रत्येक वस्तु का अपना एक नाम होता है और प्रत्येक नाम का निर्माता कवि होता है, इस छोर पर जाने वाले कवि और समीक्षक, दोनों भाषा के मूल उद्देश्य 'सम्प्रेषण' को एकदम ध्यान से हटा देते हैं। दूसरे छोर पर वे है जो शब्द को एकदम नगण्य मानते हैं और सोचते हैं अनुभव का वेग अपने आप शब्द खींच लायेगा। अज्ञेय का यह कथन इस विषय में एक अच्छी चेतावनी है—"शब्द अपने आप में पूर्ण या आत्यन्तिक नहीं है। किसी शब्द का कोई स्वयंभूत अर्थ नहीं है, अर्थ उसे दिया गया है, वह संकेत है, जिसमें अर्थ की प्रतिपत्ति की गयी है। 'एक मात्र उपयुक्त शब्द' की खोज करते समय हमें शब्दो की यह तदर्थता नहीं भूलनी होगी, वह 'एकमात्र' इसी अर्थ में है कि हमने (प्रेषण

को स्पष्ट, सम्यक् और निर्मम बनाने के लिये) नियम किया है कि शब्द-रूपी अमुक एक संकेत का एकमात्र अभिप्रेत क्या होगा।" (**'तीसरा सप्तक : भूमिका**, पृष्ठ ७-८)। *अज्ञेय* का यह कथन शब्द और अर्थ को एक तुला पर रखता है और उपर्युक्त दोनों अतिशय प्रवृत्तियों से बचकर चलता है। रीतिविज्ञान भी शब्द और अर्थ दोनों को एक तुला पर रखता है। वस्तुतः भाषा-माध्यम ही एक बड़ा कठिन माध्यम है। कला के दूसरे माध्यमों में एक सुविधा है, जैसा चाहें वैसा मोड़ दें। वहाँ रूढ़ि बनाने की छूट है और रूढ़ि तोड़ने की भी छूट है, किन्तु साहित्य मे जो माध्यम है, उसमें छूट की गुंजाइश बहुत कम है, क्योंकि साहित्य का माध्यम कुछ बना, कुछ अधबना, पर हमेशा किसी-न-किसी सामाजिक स्वीकृति-प्राप्त मानक रूप के आस-पास ही रहने को विवश है। उसमें साँचे को कायम रखते हुए ही कुछ अर्थ और शब्द में लचीलापन लाया जा सकता है। *प्रो० जोसेफ़िन माइल्स* ने[४] इसी बात की सम्पुष्टि में यह कहा है कि "जब हम किसी कवि के माध्यम के रूप मे प्रयुक्त भाषा के सामान्य उपादानों का वर्णन करने बैठते हैं, तो हमें एक साथ उस माध्यम की सीमा और सम्भावना दोनों का वर्णन करना पड़ता है। भाषा के निर्माता जो भी भाषा बोलते हैं, वह रूपहीन नही है और साथ ही संगीत-कला की जैसी खुली छूट के लिये प्रस्तुत भी नहीं है। इस माध्यम की ध्वनियाँ, वाक्य-सरचनाएँ और इसके शब्दों के सन्दर्भ में और सहचारी अर्थ एक निश्चित समय और देश मे जितना सामान्य भाषा-भाषी के लिए सुनिश्चित है, उतना ही कवि के लिये भी, केवल इतना ही अंतर है कि काव्य-भाषा में साहित्य की रूढ़ियों के कारण, या शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करें—कवि-समयो के कारण—दूसरे प्रकार की व्यवस्था भी सुनिश्चित है।" इस दृष्टि से परीक्षा की वस्तु होती है भाषा के भीतर रहते हुए भाषा के झरोखे से यथार्थ को पहचानने की कोशिश,[५] यही रीति-विज्ञान का चरम लक्ष्य है। भाषा, चूँकि एक सामाजिक यथार्थ है, इसलिये यथार्थ की एक समष्टि-गृहीत-चेतना जितनी सुलभता के साथ भाषा में व्यक्त हो सकती है, उतनी सूक्ष्मता के साथ किसी दूसरे माध्यम में नही और इस सूक्ष्मता की भी एकदम साफ-साफ पारदर्शी प्रतिमा सबसे अधिक काव्य-भाषा में प्राप्त होती है, क्योंकि काव्य-भाषा, भाषा-शक्ति के गहरे अन्वेषण के अनन्तर ही कवि को प्राप्त होती है। यह गहरा अन्वेषण कवि के निरन्तर जीवन और भाषा के साथ विभिन्न प्रकार के परिचित सम्बन्धों के भीतर गुजरते हुए अतिरिक्त सम्बन्धों के लिए सदृश सूत्र की निरन्तर तलाश है।

कुछ लोगों के मन में यह भ्रम है कि काव्य-भाषा का गुण उसकी 'संक्षिप्तता' मात्र है, किन्तु काव्य-भाषा का मुख्य गुण है उसका 'खुलापन' और इसीलिये उसका झुकाव (जैसा कि *फिलिप व्हीलराइट* ने **मेटाफर एण्ड रियलिटी** नामक ग्रंथ मे प्रतिपादित किया है) अर्थ की संक्षिप्तता से अधिक अर्थ की पूर्णता की ओर होता

है। इस अर्थ-पूर्णता का एक प्रकार है—मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराना या सामान्य-कथन के शाब्दिक अर्थ में निहित किसी भी सामान्य उक्ति के सामान्य अर्थ को अधिक व्यापक और विस्तृत आयाम देना, किन्तु दूसरा प्रकार यह भी हो सकता है कि काव्य-भाषा द्वारा प्रस्तुत अर्थ या काव्य-बिम्ब या काव्यार्थ अकेला न हो, काव्यगत शब्द के द्वारा अर्थ-प्रतीति एक से अधिक दिशाओं में एक साथ होती है,[२६] यही और अधिक सही मायने में अर्थ की पूर्णता है।' इस पूर्णता में अर्थ और अधिक खुलता है, अपनी बँधी हुई सीमा से और अधिक उन्मुक्त होता है और एक साथ कई प्रकार के सम्भाव्य मनोभावों को छेड़ने में समर्थ होता है। विस्तार मे यहाँ चर्चा न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्यगत शब्द में विशेषता न होते हुए भी काव्य के शब्दार्थ-व्यापार में विशेष का आधान संभव हो पाता है और इसीलिये सामान्य-संदेश की अपेक्षा काव्य-भाषागत-संदेश या अधिक व्यापक रूप मे कहें—साहित्य-भाषागत-संदेश—अधिक अद्वितीय हो जाता है।

साहित्य-भाषा के इस व्यापारगत महत्त्व को देखते हुए रीति-विज्ञान की परिधि का निर्धारण बहुत कठिन है। भाषा-विज्ञान के किसी भी एक सम्प्रदाय के अनुसार रीति-विज्ञान-परक व्याख्या प्रस्तुत करना हमारी समझ में संभव नहीं है। इसके लिये स्वतंत्र रूप में मापदण्ड निर्धारित करने होंगे और सामान्य भाषा के विश्लेषण की अपेक्षा कुछ अतिरिक्त तत्त्वों को भी इसमें सन्निविष्ट करना होगा, उदाहरण के लिये, अकेले केवल समकालिक व्याख्या से या अकेले केवल भिन्न-कालिक व्याख्या से ही रीति-विज्ञान का काम पूरा नहीं हो सकता, एक ओर जहाँ किसी भी प्रयोग के समकालिक (सिंक्रॉनिक) पुनरावर्त्तनों को उस कवि के स्व-वाङ्मय में और उसके समकालीन दूसरे कवियों के वाङ्मय मे देखकर एक सूत्र मे स्थापित करना होगा, दूसरी ओर उस प्रयोग के पीछे पिछले सिद्ध कवियो के प्रयोगों का सन्दर्भ भी ढूँढ़ना होगा। इन सन्दर्भो के साथ-ही-साथ सतही संरचना से संतुष्ट न रहकर उसकी तलवर्तिनी संरचना के विशेष गुणों को, रंगतों को और बनावटों को सतही संरचना के नीचे डूबकर ऊपर लाना होगा। व्यंग्य और वक्रोक्ति के विचार में भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने जिस छाया, कान्ति, गूढ़ागूढ व्यंग्य की बात की है, वह काव्यवस्तु डूबे बिना नहीं दिखाई पड़ती और वह डूबने की प्रक्रिया भी शब्दार्थ-व्यापार ही है, क्योंकि शब्द ही डूबने का प्रेरक भी है, शब्द ही तिरने का साधन भी। साधारण पाठक को समाधि लगने से भी या तन्त्र-मन्त्र करने से भी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। उसकी उपलब्धि के लिये केवल एक द्वार है और वह है वाग्द्वार, जो पीछे है और आगे भी है, क्योंकि हर द्वार के पीछे भीतर के प्रकोष्ठों के अनेक द्वार हैं और उन द्वारों के पीछे भीतर का प्रशस्त आँगन है और हर बाहरी द्वार के आगे क्षितिज का एक नया द्वार है। इसीलिये रीति-विज्ञान दोनों दृष्टि से एक साथ तीन तलों पर काम करने के लिये विवश है—

वे तीनों तल हैं : भाषा के रूढ़ अर्थ, प्रचलित अर्थ और संभाव्य अर्थोंका पहला तल; भाषागत अर्थ के विशेष देशगत सन्दर्भ, दूरदेशगत सन्दर्भ और इसके पार सर्वदेश-गत सन्दर्भ, इन सबके द्योतन का दूसरा तल, और शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की अयथेष्टता, यथेष्टता और अतियथेष्टता— इन तीन प्रकाशनों का तीसरा तल।

जो उदाहरण समझाने के लिये प्रस्तुत किए गये हैं, उनमें किसी एक ढर्रे का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कोशिश यह की गई है कि प्राचीन प्रकार की व्याख्या-पद्धति को आधुनिक सन्दर्भ की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए बिना कोई पारि-भाषिक नाम दिए अर्थ-ग्रहण का एक मार्ग निर्धारण करने में उपयोजित किया जाय और इसको प्रामाणिक एवं तर्कबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जाय।

२

काव्य-भाषा और काव्येतर भाषा

प्राय: आलोचकों के मन में यह भ्रम है कि काव्य-भाषा स्वत: स्फूर्तिजन्य होने के कारण अपने-आप सामान्य-भाषा से पृथक् और विशिष्ट है, इसलिये सामान्य भाषा के अध्ययन के मापदण्ड उस पर लागू नही किये जा सकते। इस अंश में चाहे यह बात सही भी हो कि काव्य-भाषा के विवेचन में सामान्य भापा के मापदंड को और अधिक आन्तरिक उद्देश्यपरक बनाना होता है, पर यह सर्वथा निर्विवाद है कि काव्य-भाषा सामान्य-भाषा से उद्भूत है और सामान्य भाषा, जो कल आने वाली है, वह आज की समर्थ काव्य-भाषा में मौजूद है। वस्तुत: भाषा के इन दो स्तरों मे अन्तर उद्देश्य का है, न कि स्वरूप का। सामान्य कथन और काव्यात्मक कथन मे दो अन्तर बहुत स्पष्ट हैं। पहला तो यह कि सामान्य कथन दार्शनिक विवेचन के लिये भी यदि उपयोजित हो, तो भी प्रत्येक दशा मे बहिर्मुख होता है, क्योंकि उसका उद्देश्य शब्द को पहुँचाना नहीं, शब्द में निहित संदेश को पहुँचाना है और वहाँ अर्थ-बोध की स्पष्टता में ही संदेश-प्रेषक का मुख्य तात्पर्य निहित रहता है, जबकि इसके ठीक विपरीत काव्यात्मक कथन का सन्दर्भ अन्तर्मुख है; अन्तर्मुख इस अर्थ में नहीं कि उसका कोई सम्प्रेष्य या पाठक सामने नहीं है, वह बल्कि लेखक के निजी अनुभव की ओर ही अभिमुख है, इस मायने में कि उस कथन का सन्दर्भ इसके पूर्व के उन काव्यात्मक कथनों से है, जिनके सातत्य में सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से ये कथन संगत हैं। दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि काव्यार्थ किसी बाह्यार्थ के सन्दर्भ की विशिष्टता न ज्ञापित करके अपने सदृश दूसरे काव्याथ या काव्यार्थों की विशिष्टता ज्ञापित करता है। इसका यह अर्थ नही कि शब्दार्थ-व्यापार के द्वारा जो काव्यार्थ उद्भूत होता है, वह अनुभव निरपेक्ष है या अनुभव की गहराई से वह कोई संस्कार नहीं प्राप्त करता। यहाँ केवल इस पर बल देना अपेक्षित है कि अनुभव और उस अनुभव को व्यक्त करने वाली समर्थ भापा के बीच जब तक सामजस्य स्थापित नहीं हो पाता, तब तक कोरा अनुभव उस रूप मे प्रेषणीय नहीं हो सकता, जिस रूप में काव्यात्मक कथन हो जाता है। अनुभव करने वाले तो सभी होते हैं; सभी किसी-न-किसी मायने में विशिष्ट अनुभविता

होते है, इसलिये उसका महत्त्व है यह बात नहीं; बल्कि वह उस अनुभव को अत्यन्त विशिष्ट वाचिक रूप में ग्रहण करने में विशिष्ट कुशलता प्राप्त कर चुका है, इसलिये उसके शब्दों द्वारा समर्थित अनुभव उसका निजी अनुभव होते हुए भी दूसरों द्वारा सहास्वाद्य बन जाता है।[१] सामान्य भाषा का उद्देश्य डोलेजेल के शब्दों में भाषा को बाह्य वास्तविकता (अर्थात् बाह्य अर्थ) के ग्रहण और भाषागत संकेत के ग्रहण की ओर उन्मुख करना है, जबकि काव्य-भाषा का उद्देश्य यह है कि इसमें भाषागत संकेत ही बाह्य अर्थ का ध्यान केन्द्रित करता है। सामान्य-भाषा संकेत और संकेतित के बीच स्थिर सम्बन्धों को विचलित नहीं करती, दूसरे शब्दों में सामान्य-भाषा भाषा के आधार-भूत संकेतों और उनसे बोधित होने वाले अर्थों के नियमों का एक स्वयं-चालित यन्त्र है; ठीक इसके विपरीत काव्य-भाषा में शब्द और बाह्य अर्थ के सम्बन्ध को अंशत: विघटित करके या कम-से-कम उसके स्थिर सम्बन्ध को कुछ मोड़ देकर भाषागत सकेत को एक नया महत्त्व, एक नयी अर्थगर्भता प्रदान करनी होती है। इससे शब्द और अर्थ-सम्बन्धी नियमों को स्वयचालित रूप में नहीं, सर्जनात्मक रूप में प्रवर्त्तित करना पड़ता है।[२] जिस प्रकार पत्थर या लकड़ी से शिल्प-निर्माण करते समय जहाँ तक कि उपादान-सामग्री का प्रश्न है, वे दूसरे किसी काम में आने वाले पत्थर या काठ की सामग्री से अलग नहीं होते, किन्तु पत्थर या काठ को तराशने की कुशल प्रक्रिया के द्वारा उसके भीतर की रंगत या रेखाओं की भंगिमा को एक नवीन संरचनात्मक साभिप्रायता देकर शिल्पी उसी सामग्री को लालित्य-व्यवस्था में अद्वितीय साधन बनाता है, उसी प्रकार कवि या लेखक रोजमर्रा की भाषा का कच्चा-माल लेकर उसकी भीतरी बुनावट की सोद्देश्यकता को नया आयाम देकर अद्वितीय बना देते हैं। वस्तुत: काव्य-भाषा का अध्ययन रोज़मर्रा की बोली जाने वाली भाषा के तत्त्वों के पुनर्विन्यास और काव्य-रूपान्तरण का अध्ययन है।[३]

भारतीय काव्य-शास्त्र में बहुत पहले शब्दशक्ति के विवेचन के प्रसंग में यह बात अनेक बार दुहरायी गयी है कि काव्य का प्राणभूत व्यंग्यार्थ शब्द-व्यापार के ही द्वारा उद्बुद्ध होता है और व्यंजना वस्तुत: भाषा-गत विविध सन्दर्भों (वक्ता, बोद्धव्य आदि) की सहायता से शब्द में निहित वाच्येतर अर्थ की खोज है या वाच्यार्थ अनुपपन्न होने की दशा में वाच्य-वाचक सम्बन्ध अर्थ की प्रतीति का मूलभूत प्रयोजन है। काव्यार्थ का रहस्य शब्द से ही उन्मीलित होता है।[४] हाँ, उन्मीलन का साधन शब्दार्थ-नियम-ज्ञान के अतिरिक्त एक पदार्थ होता है, जिसे 'प्रतिभा' कहा गया है। 'प्रतिभा' शब्द और अर्थ के सम्बन्धों को एक से अधिक धरातलों पर उठा कर उन्हें एक-दूसरे की ओर चालित करने की रचयित्री शक्ति है। वह शब्द और अर्थ के साहित्य के निरन्तर अभ्यास से उत्पन्न संस्कार है।[५] कलात्मक-सर्जन के क्षेत्र में वस्तु-जगत् या अनुभव-जगत् का सिद्ध रूप से साध्य-

कला-वस्तु या कलानुभूति के रूप में रूपान्तर हो जाता है और परिणामवश 'एक नये प्रकार का अन्तरवलम्बित और अन्तःसम्बद्ध संघटन उद्भूत हो जाता है। वास्तविक जीवन से सम्पर्क छूटता नहीं, बल्कि और बढ़ जाता है, क्योंकि वास्तविक जीवन बिम्बानुबिम्ब-भाव से काव्यार्थ-जगत् को उपकृत करता है और स्वय उससे रस ग्रहण करके अधिक जीवनीय बनता है।[1]

आधुनिक भाषा-विज्ञान ने यह मानना शुरू कर दिया है कि काव्य की भाषा का भी अध्ययन वैज्ञानिक दृष्टि से किया जा सकता है और उसके ऊपर भी भाषा-विज्ञान के सिद्धान्त और प्रक्रिया-विधान लागू किये जा सकते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सामान्य-भाषा में अवतरणगत समग्र संघटना के महत्त्व पर वल नही रहता, जबकि काव्य-भाषा के अवतरण का अर्थ उस भाषा के समग्र अर्थ की पृष्ठभूमि में ही अवस्थित होता है और उस समग्र अर्थ की सम्पूर्ण सम्भावनाओं का जव तक मन्थन नहीं कर लिया जाता, तब तक सार्थक काव्यार्थ उद्गत नही हो सकता। वह यदि सामान्य भाषागत अर्थ से किसी मायने में विशिष्टता रखता है तो इसी मायने में कि सामान्य अर्थ को उसकी समग्र सम्भावना के समक्ष लाकर खडा कर देता है, उसे अकेले विलग नही रहने देता, जैसा कि हैलिडे ने ठीक ही सोचा है, 'काव्य-भाषा को बिना इस रूप में ग्रहण किये कि वह एक व्यक्ति द्वारा उसकी कुछ सम्भावनाओं में से सोद्देश्य चयन है, ठीक से ग्रहण नहीं कर सकते हैं'।[2] इस सोद्देश्य रचनात्मक-चयन के ही कारण काव्य मे एक निजता के व्यक्तित्व का उदय होता है और इसका बार-बार आवर्त्तन ठीक उसी रूप में आकलन-मुखर हो जाता है और वह इसके लिये हमें प्रेरित करता है कि हम ठीक उसी रूप मे उसे दुहरा सकें, पढ़ने या सुनने के बहुत समय बाद भी दुहरा सकें। वस्तुतः इसी प्रेरणा के कारण, जहाँ रचनात्मक प्रतिभा वाले व्यक्ति दुहरा कर भी नये अर्थ से उसे जोड़ सकते हैं, असमर्थ व्यक्ति पुरानी काव्य-पंक्तियों से बँधे रह जाते है। वे काव्य के अर्थ को उसके केन्द्र से विस्थापित करके उसकी परिधि की सीमा मानने लगते हैं। काव्य-भाषा में सामान्य अर्थ और सामान्य में निहित विशिष्ट अर्थ के समीकरणों के जोड़े इस प्रकार रच जाते है कि इनके सहारे कोई भी व्यक्ति उस काव्य में विशेष के निजी संदेश को व्यवस्थित रूप में ग्रहण कर सकता है।[3]

काव्य-भाषा की यह निजी विशिष्टता बहुत कुछ तो इस कारण है कि काव्य-भाषा के ऊपर सामान्य भाषा की अपेक्षा भाषागत सन्दर्भों का दबाव बहुत ज्यादा है। सामान्य भाषा में केवल वाक्य-रचना के सीमान्तों का दबाव रहता है, शब्द के साहचर्य से झंकृत होने वाले बहुत सारे शब्दार्थ-सम्बन्धों का सन्दर्भ सामने नही रहता। सामान्य भाषा में 'दूब' मात्र 'दूब' है, वह 'दूब' शब्द के प्रयोग के साहचर्य से उद्बुद्ध होने वाली विनम्रता, तितिक्षा और अदम्य सप्राणता का अनुभावन नहीं करा सकती। सामान्य भाषा में अवतरण के परे अवतरण की संरचना का

कोई महत्व नहीं होता, जबकि किसी कविता में उसकी पूरी संरचना के सन्दर्भ मे ही कोई पंक्ति अर्थ रखती है। यदि कविता प्रबन्धात्मक हुई तो पूरे प्रवन्ध के सन्दर्भ में उसके अर्थ की खोज की जा सकती है। अर्थ सन्दर्भ का ही व्यापार है—यह सिद्धान्त काव्य-भाषा के ऊपर सामान्य भाषा की अपेक्षा और अधिक लागू है, क्योंकि सामान्य भाषा का सन्दर्भ बहुत सीमित है।[९] काव्य-भाषा में बाहरी सूचना से अधिक ध्यान अपने संदेश के गठन पर ही ज्यादा होता है, इस हद तक कि संदेश अपने वाह्यार्थ के साथ अपने सम्बन्ध की डोर ढीली कर देता है। काव्य-भाषा अनायास, अप्रयोजन प्रयोजनशीलता की साधना है और इस प्रयोजन-शीलता के निरन्तर खिचाव के कारण काव्य-भाषा के सभी स्तरों पर एक साथ एक नया तनाव जन्म लेता रहता है; ध्वनि और अर्थ के बीच, व्याकरण और शब्द-रचना के बीच, वाक्य-खण्ड और वाक्य के बीच। इस तनाव के कारण काव्य मे प्रयुक्त प्रत्येक वाक्य और वाक्य-खण्ड, शब्द और उसके अवयव तथा वर्ण—ये सभी अपरिहार्य रूप से एक-दूसरे के उपकारक होकर अनुस्यूत हो जाते हैं। काव्य के केन्द्रगत अर्थ को हम रस, ध्वनि, वक्रता अमूर्त्त सौन्दर्य—जिस किसी भी नाम से पुकारें, वही इस प्रयोजनशीलता का प्रेरक है और वह काव्य का प्रयोजन न होते हुए भी काव्य के प्रयोजन से कुछ और ऊपर है; वही काव्य का आन्तरिक मर्म है। ऐसा नहीं है कि सामान्य भाषा में उसके किसी संदेश-खण्ड के अवयव भीतर-भीतर सगठित न हों, पर उस संगठन का उद्देश्य उस संदेश-खण्ड को बाहर के जगत् के साथ जोड़ना है; इस संगठन को वाह्य जगत् के बारे में सूचना देने के कार्य मे उपयोजित करना है। इसमें संदेश स्वयं में कुछ महत्त्व नहीं रखता, इसीलिये काव्येतर भाषा में सूचना का सम्प्रेषण या सूचना का क्रम और चयन आदि वाह्य आधार पर निर्धारित होते हैं, जबकि काव्य-भाषा में सूचना में निहित शब्द और अर्थ दोनों अपने-आप में अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। वे बाह्य-जगत् से बहुत दूर तक स्वतंत्र होकर स्वयंपूर्ण शब्दार्थ-अनुभव के विषय बन जाते हैं।[१०]

भारतीय-चिन्तन में इसीलिये 'रूप' से अधिक 'नाम' की महिमा है। 'नाम' मे जब चैतन्य टिक जाता है तो रूपात्मक प्रत्यक्ष का अनुभव वेकार हो जाता है और तब अनुभविता अरूप जगत् में पहुँच जाता है। क्रमशः निरन्तर साधना करने से वह समस्त उपाधियों से मुक्त हो जाता है और तभी वह सच्चे माने में शुद्ध और अनुपहित चैतन्य का आकार ग्रहण करता है। आनन्दकुमार स्वामी ने इसी सिद्धांत को विस्तार में विवेचित करते हुए कहा है कि नाम-रूप दोनों एक-दूसरे के विरोध मे यहाँ खड़े नहीं है। यथार्थ आदर्श का द्वार मात्र है, वह स्वयं में साध्य नहीं है। वह परानन्द का प्रतिबन्धक नहीं, अनुबन्धक है, इसीलिये उसका उपयोग भारतीय कला में समर्पित रूप में ही है। वह 'नाम' की अभिव्यक्ति को पहचानने के लिये दृश्य-रूप मात्र है। भारतीय उपासना का उद्देश्य किसी दृश्य स्थूल वस्तु की पूजा

नहीं, बल्कि उस स्थूल वस्तु के सहारे जिस अमूर्त्त भावना का चिन्तन निरन्तर किया जाता रहा है, उस भावना के साथ तादात्म्य स्थापन है। *आनन्दकुमार स्वामी* ने पुन: अपने एक दूसरे लेख 'परोक्ष' में इसी स्थापना के समर्थन में एक उदाहरण दिया है कि पुष्कर का प्रत्यक्ष और इसके परोक्ष, दोनों अत्यन्त भिन्न है। जिसमें दोनों के बीच में भेद न प्रतीत हों, वह कला या सर्जनात्मक-भाषा कला नहीं रह जाती, वह अनुकरण हो जाती है और' कमल' भी यदि जीव-विज्ञानी की दृष्टि वाले 'कमल' से कुछ अलग होकर केवल अलंकरण वाला एक प्रतिरूप बन जाय, तब भी वह जब तक कि उसको कोई नया परोक्ष मूल्य न प्राप्त हो, सर्जनात्मक उद्देश्य में साधक नहीं हो सकता।"[1]

भारतीय काव्य-दृष्टि काव्य को सिद्ध-वस्तु नहीं मानती है, व्यापार या प्रक्रिया मानती है; इसीलिए काव्य-मात्र में बराबर कुछ ऐसा रहता है, जो प्रत्यक्ष दिखायी देकर भी हाथ में सामान्य-भाषा के वर्गीकरणों में गहा नहीं जा सकता। काव्यगत सत्य के स्वरूप के सम्बन्ध में *अभिनवगुप्तपाद* ने **अभिनव-भारती** में रस के विवेचन के प्रसंग में बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है—

आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत्,
संविद्विकासेऽधिगतामित्वम्।
इत्थं स्वयंग्राह्य महार्हहेतु—
द्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोक:।।
ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थसत्वं
धी: पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती।
अलं तदाद्यै: परिकल्पितानां
विवेकसोपानपरम्पराणाम्।।
चित्तं निरालम्बनमेव मन्ये
प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम्।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्धे
पुरप्रतिष्ठापि न विस्मयाय।।

"जो बात परम्परा में सिद्ध रूप से प्रमाणित है, उसे दुहराने में कौन नयी बात है? उलटे इस प्रकार की पुनरावृत्ति से दुहरी ग़लती ही प्रकट होती है। ऐसा करने वाला आदमी जान-बूझकर उपहासास्पद बनता है और सिद्ध-वस्तु को अपने साध्य के रूप में प्रस्तुत करने को हेठी दिखलाता है। इसलिए मानवीय-बुद्धि बिना रोक-टोक के ऊपर को चढ़ती चली जाती है; वह पूर्व-कल्पित विवेक की सीढ़ियों पर ठहरी नहीं रहती; जैसे रास्ता और पुल बनाने का प्रारम्भिक काम अजीब, अटपटा और शून्य में अटका-सा लगता है, पर बाद में मार्ग बन जाने पर पुल का नक्शा साफ़ हो जाता है और तब उस पुल में कोई अटपटापन नहीं रह

जाता। उसी प्रकार नये सत्य के शोध की प्रक्रिया शुरू-शुरू में भले ही अटपटी दिखलाई पड़ती हो, अन्त में उसकी समग्रता के आलोक में हर चीज़ जुड़ी और सप्रयोजन लगने लगती है।"

अभिनव गुप्तपाद के ये श्लोक काव्य-भाषा की आपातिक या सतही अस्पष्टता और विच्छृंखलता को प्रक्रिया के अवयव के रूप में देखने पर बल देते हैं। काव्य से व्यंग्यार्थ काव्य-प्रक्रिया से अलग कर देने से असम्भव, अटपटा और मनमाना लगता है, पर काव्य की समूची संघटना की दृष्टि से यही सबसे अधिक आधारभूत स्तम्भ हो जाता है। उदाहरण के लिए, ध्वनि-काव्य के मूर्धाभिषिक्त उदाहरण के रूप में बार-बार उद्धृत श्लोक लिया जा सकता है—

> **निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो।**
> **नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः॥**
> **मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे।**
> **वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥**

"तुम्हारे कुच-तट से सब चन्दन घुलकर गिर गया है; तुम्हारे निचले होंठ की रंगाई एकदम पुँछ गयी है; आँखों की कोर अब आँजी नहीं लगती; तुम्हारा शरीर रोमांचित हुआ लगता है। तू झूठ बोल रही है। अपनी सहेली के दर्द का तुझे क्या पता ? तुम मेरे उस अधम प्रियतम के पास नहीं गयी थीं, तू तो बावली में नहाने गयी थी।"

सतही अर्थ की उपपत्ति की दृष्टि से इस श्लोक में मात्र स्तन-तट का चन्दन-च्युत होना, निचले होंठ की ललाई का पुँछना, केवल कोरों का आँजन धुलना, ये लक्षण बावड़ी में नहाने वाले वाच्यार्थ में कुछ गड़बड़-से लगते हैं, साथ ही प्रियतम के लिये 'अधम' शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं प्रतीत होता। इस 'अधम' शब्द से इशारा लेकर जब हम रति-रूप व्यंग्यार्थ का नक्शा उभारने लगते हैं, तो समस्त आपत्तियाँ वाच्यार्थ के साथ ही बाहर निकल जाती हैं। कहा जा सकता था कि रतिरूप व्यंग्यार्थ ही क्यों चुना गया ? सम्भावना तो और पचीसों चीजों की हो सकती थी। उसका समाधान यह है कि काव्यार्थ के सन्दर्भ की समग्रता में—जिसमे कौन कह रहा है, किससे कह रहा है, किस घटना के प्रकरण में कह है, कहाँ कह रहा है, कब कह रहा है, आदि, आदि—दूसरा व्यंग्यार्थ उतना सहृदय-स्वीकार्य नहीं हो सकता था।

आधुनिक भाषा-विज्ञान ने उपर्युक्त स्थापना को एक दूसरे प्रकार के प्रत्यय-वादी धरातल पर समर्थन दिया है और अब यह मानना शुरू किया है कि जब हम मूल्य की बात करते हैं, तब केवल उसका भावनात्मक या उदात्त आध्यात्मिक मूल्य की बात करना पर्याप्त नहीं समझते, क्योंकि यह मूल्य अब पुराना पड़ गया है, अब मूल्य की बात शुद्ध रूप से सौन्दर्य-बोधात्मक प्रक्रिया के माध्यम रूप मे

किसी वस्तु की कृतकार्यता को दृष्टि में रख कर की जाती है। इसके माध्यम से जो अलग-अलग अपने में असुन्दर भी प्रतीत होते हों, उनके भी कुशल संयोजन से एक सुनिश्चित सौन्दर्यबोधात्मक मूल्य स्थापित किया जा सकता है। यह सौन्दर्यबोधात्मक व्यापार सतही भाषा का व्यापार नहीं और सीमित काव्य-भाषा का भी व्यापार नहीं है, यह पूरी रचना की भाषा का समग्र व्यापार है। इसीलिये किसी भी उक्ति का इस प्रकार का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसके समग्र परिवेश को ध्यान में न लाया जाय।[12] पुराने भारतीय व्याख्याताओं की पद्धति को ही एक प्रकार से आगे बढ़ाते हुए उसको कुछ और अधिक परिच्छिन्न बनाने के उद्देश्य से सांख्यिकीय चयन के आधार पर मूल्यांकन प्रारम्भ हुआ है। डोलोजेल ने सांख्यिकीय विश्लेषण के लिए दो गुणात्मक आधार स्वीकार किये हैं :—

१. सजातीयता बनाम विजातीयता। यह इस आधार पर है कि एक समकालीन रचनाकार कितनी दूर तक दूसरे समकालीन रचनाकार का साझीदार है और कितनी दूर तक वह अलग है।

२. स्थिरता बनाम अस्थिरता। यह मानदंड रचना के विविध भागों की भीतरी समीक्षा के ऊपर लागू किया जाना चाहिए। कोई भी विशेषता स्थिर मानी जायगी, यदि समस्त खंडों में पायी जाय, किन्तु यदि भिन्न-भिन्न खंडो मे उसके रूपान्तर मिलें तो वह विशेषता अस्थिर मानी जायेगी।[13]

इस प्रकार किसी भी रचना के विश्लेषण के लिए रचना के भीतरी और बाहरी सन्दर्भ, दोनों महत्त्वपूर्ण हैं और दोनों के योग से ही उस रचना की अपनी विशेषता, चाहे शब्दों के चयन के स्तर पर, चाहे वाक्य-विन्यास और उसके भंग या विचलन के स्तर पर, चाहे सादृश्य-विधान के स्तर पर, या चाहे सादृश्येतर उक्ति-भंगि के स्तर पर—किसी रचना का केन्द्रभूत प्रयोजन विभिन्न आँकड़ों के द्वारा निर्गमित किया जा सकता है।

वस्तुत: अनेक सम्भावनाओं में से एक सम्भावना का चुनाव यादृच्छिक नहीं होता। यह चुनाव भाषा के विभिन्न घटकोंके संश्लेष-विशेष से नियन्त्रित होता है। इसी सिद्धान्तको रोमन *याकोब्सन* ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है: "काव्य-व्यापार चयन की धुरी-रेखा से भाषा के दो तत्त्वों के जोड़ बिठलाने की मान्यता को संश्लेष की धुरी पर प्रतिक्षिप्त करता है। ऐसे जोड़ बिठलाने का उपयोग चाहे वह भाषा के नादात्मक या अर्थात्मक स्वरूप से निकला हो, कोई आकस्मिक घटना के रूप मे नहीं होता। यह अत्यन्त व्यवस्थित रूप में सामने लाया जाता है। मूलत: भाषा का सम्प्रेषण अनेक सम्भावनाओं में से एक के चयन के प्रयोजन का ही संवहन है। जब तक कि उस एक का चुनाव नहीं किया जाता, तब तक हम कह सकते है कि कौन-सा विकल्प चुना जायेगा, पर चुनाव हो जाने पर हमें एक निश्चित सूचन

मिलती है कि अमुक-विकल्प ही चुना जाने को था।"[१८] इस सूचना का सम्प्रेषण ही तो भाषा का व्यापार है। काव्य-भाषा में यह चुनाव और अधिक अन्तर्भुक्त होने के कारण परिच्छिन्न और गणितात्मक रूप में स्पष्ट हो जाता है; इसका कारण यह है कि काव्य स्वयं भाषा से ही उत्पन्न रूप है; यह न तो लेखक है और न इसका अनुभव। जिस प्रकार गणित की उपपत्तियाँ गणितज्ञ के वस्तु-जगत् से भिन्न जगत् की होती हैं और वह जगत् अपने ही नियमों से अनुशासित होता है, उसी प्रकार काव्य-जगत् भी वस्तु-जगत् और आनुभविक जगत् का समान्तर और संवादी अलग स्वतन्त्र जगत् है। यह अवश्य है कि इसकी शक्ति इसके रचयिता की अनुभव-समृद्धि और काव्य-जगत् की ही जागरूकता की मात्रा के अनुपात में घटती-बढ़ती रहती है। काव्य में रचयिता उसी प्रकार एक अनुभव-विशेष की अभिव्यक्ति-विशेष में आबद्ध दिखायी पड़ता है, जैसे किसी व्यक्ति का स्थान-विशेष और मुद्रा-विशेष में लिया गया छाया-चित्र। गुंठर-मूलर ने अपने निबन्ध **मार्फलाजिकल पोयटिक्स** में इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखा है कि साहित्य मुख्य रूप से न तो वैचारिक दृष्टियों का लेखा-जोखा है, न भावना-प्रक्रिया का विवरण है, न वस्तु-जगत् से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन है। यह शुद्ध रूप है—ऐसा रूप, जो अपनी ही छवि से आलोकित हो। परन्तु इस प्रकार के काव्यमय अस्तित्व के रूप में यह कवि का एक समानान्तर अभिव्यंजन ठीक उसी प्रकार प्रस्तुत करता है, जैसे कि किसी व्यक्ति का अभिव्यंजन उसके कपाल की बनावट, चेहरे की मुद्राओं या उसके स्वर से प्रस्तुत होता है।[१५]

वस्तुतः इसीलिए काव्य-भाषा का विश्लेषण काव्यगत सन्दर्भों के ऊपर आधृत होने के कारण सामान्य भाषा के विश्लेषण की अपेक्षा अधिक गणितीय और विच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। काव्य-भाषा में वाक्यगठन केवल घटक वाक्य-खंडों से ही पूरा नहीं होता, और न वाक्यार्थ की संगति से ही मर्यादित रहता है। काव्य-भाषा का गठन विभिन्न पदांशों—प्रत्ययों, विभक्तियों—की आवृत्ति के द्वारा अर्थ का प्राचीर तैयार करता है। वाक्य-खण्डों के क्रम के हेर-फेर के द्वारा यह अभीष्ट अर्थ के ऊपर अधिक बल डालने का काम करता है तथा समान रचना-खण्डों के सम्मुखीकरण के द्वारा अर्थों के टकराव और उस टकराव से उत्पन्न होने वाले नये अर्थ को उद्बोधित करता है।[१६] इसी अंश तक काव्य-भाषा बाह्य सन्दर्भ की दृष्टि से अप्रयोजन या निरुद्देश्य लगती है, अपने आप कभी-कभी बेतुकी भी लगती है। और वही भाषागत सन्दर्भ के भीतरी गठन की दृष्टि से सप्रयोजन और सोद्देश्य लगने लगती है। भाषागत-संकेत की ओर ध्यान केन्द्रित होने के कारण ही भाषागत संदेश सामान्य-भाषा का एक लकीर में स्थिर बहु-आयामीय रूपान्तर बन जाता है, जिसमें एक साथ ध्वनि से लेकर अर्थ के प्रत्येक धरातल को एक बिन्दु पर देखा जा सकता है।

काव्य-भाषा के अध्ययन में छन्द का ध्यान बहुत प्राचीन काल से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। छन्द का अर्थ है – कोई छिपाकर रखी हुई चीज़, अर्थात् दूसरे शब्दों में छन्द प्रत्येक कवि का अपना निजी राज़ होता है। इसीलिए एक कविता से दूसरी कविता में अनुवाद करते समय सबसे अधिक कठिनाई होती है क्योंकि हर कविता के कान अलग होते हैं; उदाहरण के लिए—जर्मन, अंग्रेजी, रूसी और चेक में बलाघात युक्त अक्षर-विभाजन छन्द की रचना का निर्धारक है, जबकि पोलिश, स्पैनिश, और फ्रेंच जैसी भाषाओं में अक्षर-बलाघात निरपेक्ष होकर निर्धारक बनता है। भारतीय भाषाओं से उदाहरण लें तो एक सपाट सरलीकरण के रूप में (निश्चय ही इसके अपवाद होंगे) यह स्थापित किया जा सकता है कि संस्कृत में अक्षरों का परिमापन अधिक बलवान् है, वहाँ बाद की भाषाओं में मात्रा का, इसीलिए हिन्दी में वर्णिक छन्द बहुत सफल नहीं हो पाये है। वर्णिक छन्द में तीन-तीन अक्षरों का पुंज गण के रूप में एक लय उत्पन्न करता है, जबकि मात्रिक छन्द में दो यतियों के बीच में मात्राओं का योग लय का निर्धारक होता है। छन्द के अध्ययन में नियमित से कम महत्त्व अनियमित या अप्रत्याशित का नहीं है, यदि अप्रत्याशित या अनियमित का प्रयोग किसी उद्देश्य विशेष से किया जाय। आधुनिक कविता के सन्दर्भ में ऊपर वाली बात विशेष उल्लेखनीय है। यहाँ पर पूरी कविता के छन्द और प्रत्येक पंक्ति की लय मे निश्चित सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि पूरी कविता के छन्दोविधान को इन अलग-अलग लय-संरचनाओं के सप्रयोजन क्रमिक विन्यास के रूप में देखने पर नियमित और अनियमित पंक्तियों के विभाजन-बिन्दुओं को काव्यार्थ के सीमान्तों के समानान्तर देखा जा सकता है। उदाहरण के रूप में अज्ञेय की **भोर बेला** शीर्षक कविता ली जाय—

१. भोर बेला।
२. सिंची छत से ओस की तिप् तिप्!
३. पहाड़ी काक
४. की विजन को पकड़ती-सी क्लान्त बेसुर डाक—
५. 'हाक्! हाक्! हाक्!'
६. मत सँजो यह स्निग्ध सपनों का अलस सोना —
७. रहेगी बस एक मुट्ठी खाक!
८. 'थाक्! थाक्! थाक्!'

इस कविता में चौथी और सातवीं पंक्तियाँ दूसरी पक्तियाँ की लय में इतनी निरन्तर गुरुता नहीं है, दोनों पंक्तियाँ काव्यात्मक अनुरणन के अतिरिक्त कोई शाब्दिक अर्थ नहीं रखतीं, पर दोनों पंक्तियों का अन्य पंक्तियों से बेतालपन काव्य के मूल सम्प्रेष्य प्रयोजन, वैकल्य-बोध की प्रतीति कराने में बहुत समर्थ है।

दूसरी पंक्ति में 'पहाड़ी काक' को उसकी विभक्ति 'की' से अलग करके स्वतन्त्र रूप में रखना दो उद्देश्यों से है। एक तो यह कि वह 'पहाडी काक' 'भोर वेला' सिंची छत से ओस की 'तिप् तिप्' से एकदम तटस्थ केवल 'वेसुर डाक' 'हाक्, हाक्, हाक्' से लय मिलाये एक स्वतन्त्र उपस्थिति के रूप में मौजूद है; दूसरे वह उपस्थिति पंक्ति में 'की' जोड़ने से खण्डित हो सकती थी, इसे अलग ही रखना आवश्यक है। आधुनिक कविता में श्रव्य गुण के साथ-साथ दृश्य गुण का नया सन्निवेश छापेखाने की कृपा से हुआ है, पर यह अतिरेक को अगर पहुँचा दिया जाय तो कविता-भाषा न बनकर अपने में साध्य प्रयोग या कभी-कभी तो कोरा चित्रकाव्य मात्र बनकर रह जाती है।

इसके अलावा तकनीकी दबाव और समूह-संचार-साधनों के प्रसार से आधुनिक काव्य-भाषा के सामने जो और नयी समस्याएँ आयी हैं, उनको भी प्रसंगवश समझना आवश्यक है।

यदि छापेखाने ने आदमी को अपने अस्तिभाव को आनुष्ठानिक पवित्रता के घेरे से बाहर निकालने के लिए लाचार किया और आदमी को छापे के घेरे में रूंध कर उसे वनजारेपन से मुक्त किया तो बीसवी सदी के विद्युत्तंत्र (इलेक्ट्रॉनिक्स) ने समूचे विश्व को एक बड़े गाँव के विम्ब में बाँध दिया और तात्कालिकता और सार्वत्रिकता की ऐसी अपरिहार्यता ला दी है कि अब आदमी किसी एक वस्तु या परिवेश से बँधा नहीं रह सकता[१७]। वह एक साथ अनेक विश्वों एवं संस्कृतियो मे घूमता रहता है। छापाखाना सामूहिक संचार-साधन का प्रारम्भ मात्र था। उसने अनुभव के अनेक द्वारों को बन्द करके दृष्टि के द्वार को खोलकर मानवीय संवेदना को परिसीमित-भर किया और एक निश्चित दृष्टिकोण की उद्भावना की। उसने ऐसी विडम्वना को जन्म दिया, जिससे सक्रियता भी चलचित्र की तरह कुछ निश्चल चित्रों की शृंखला-मात्र बन जाय। पर विद्युत्-तंत्र ने संचार साधनो मे नयी क्रांति ला दी। टेलीविज़न के विकास के द्वारा दृष्टि को और परिसीमित कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि टेलीविज़न से चिपकी हुई आँखें केवल केन्द्र को देख सकती हैं, परिधि उनके लिए एकदम धुलकर सपाट हो जाती है। चेहरे की हरएक सिलवट तो उभर आती है, पर आदमी कहाँ बैठा हुआ है, उसके आस-पास क्या हो रहा है, यह सब एकदम धुँधला पड़ जाता है। ये आँखें फिर परिवेश की पहचान करने में असमर्थ हो जाती हैं। उनके लिए दृश्य का केन्द्रबिन्दु ही पूरा परिदृश्य बन जाता है। विद्युत्-तन्त्र ने एकरूपता और ध्वनिविस्तार यन्त्र की अनुरूपता के लिए श्रव्यरूप को भी बहुत अधिक ठहराव दे दिया है और भाषा को सहजता तक ले जाने के आयास में बहुत हद तक कृत्रिम बनाकर सहजता के बँधे सूत्रों में जकड़ दिया है। इसका गहरा प्रभाव भाषा, विशेष रूप से सर्जन-मुखी-भाषा पर पड़ा है। भाषा का श्रव्य रूप अधिक सक्रिय, अधिक गतिशील

तथा अधिक परिवर्तनशील होता है, जबकि दृश्य रूप अधिक स्थिर, अधिक रूढ और अधिक अपरिवर्तनीय होता है। यान्त्रिकता के प्रभाव में जब भाषा अधिक दृश्य बन जाती है और दृश्य भी ऐसा कि उसमें लिखने वाले व्यक्ति की भी विशिष्टता न रह कर छापने वाली मशीन की छाप मात्र दिखायी पड़ती है, लचीलापन नहीं रह जाता और तब सर्जन-प्रक्रिया और भी जटिल हो जाती है।

समूह-संस्कृति का पहला आक्रमण होता है, शब्दों के नुकीलेपन पर। बार-बार पुनरावर्तन से और एक ही प्रकार के पुनरावर्तन से शब्दों की कोर मर जाती है और इतने जल्दी-जल्दी शब्द अपना जामा बदलने लगते हैं कि उन्हें पहचानना मुश्किल हो जाता है। सही शब्दों की तलाश के लिए इतनी अँधेरी गलियों, इतने कोनों-अँतरों में जाना पड़ता है और उन शब्दों को तुरत बिल्कुल सरे बाज़ार रोज़-रोज नयी-नयी पंक्ति में खड़े करना पड़ता है कि यह नापने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता कि कौन शब्द कब कूट भाषा (स्लैङ्) का था और कब सामान्य भाषा का हो गया। कविता बोलचाल की ही भाषा से ही नहीं, एकदम भदेसी एवं अन्तरंग अनगढ़ बोलचाल की भाषा से शब्द लेने के लिए लाचार हो जाती है, इसलिए कि पिछले शब्द कुछ ही समय में आवृत्तियों की संख्या के तथा पहुँच के दायरे के फैलाव के कारण बहुत जल्दी चुक जाते हैं। यही नहीं, जब कभी बात को मोड देकर कुछ बाँकी भंगिमा लाने की कोशिश की जाती है तो वह बाँकपन दूसरे ही दिन सीधा-सपाट बन कर प्रस्तुत हो जाता है।

एक ओर तेज़ी से बदलाव की यह लाचारी है, दूसरी ओर भाषा को एक सीमा के बाहर तोड़ने में सम्प्रेषण के सूत्र के टूटने का ख़तरा। कवि-कर्म इन दोनों छोरो के बीच तनाव के कारण आज बड़ा कठिन हो गया है। कवि अपनी सीखी हुई भाषा और भाषा के बोलने वाले के बीच में अपने को एकाएक अजनबी महसूस करने लगता है—विशेषकर उस समय जब सीखी हुई भाषा की भीतरी गाँठ को खोलने के लिए, उसको और नज़दीक से समझने के लिए अपने कविधर्म के कारण बेचैनी महसूस करता है। वह दुहराने से जितना बचना चाहता है, उतना ही दुहराव के घेरे उसे लपेटने लगते हैं। कोई रचनात्मक बन्ध आविष्कृत होने भर की प्रतीक्षा करता है, आविष्कृत होते ही यांत्रिक साँचे में ढलकर कोटि-कोटि रूपो मे आवृत्त हो जाता है वह आविष्कार न रहकर एक बासी ठहराव वाला मॉडल बन जाता है। कोई भी प्रयोग सिद्ध होने के पहले उच्छिष्ट बन जाता है। इस सकट से उबरने के लिए कवि को एक साथ दो काम करने होते हैं: उसे विशेष से अधिक सामान्य की खोज करनी होती है और सपाटता से बचने के लिए एक साथ बहु-आयामी वास्तविकता का साक्षात्कार कराना होता है।

वह रोज़मर्रा की भाषा में सीधी चोट करने की क्षमता की सही-सही पहचान करता है और इस पहचान में वह विश्वयारी न अपनाकर अपने शहर या गाँव,

अपने साथी-सँघाती, अपने आस-पड़ोस से सम्पृक्त रहता है, दूसरी ओर वह किसी एक संस्कृति, जाति या इतिहास के केन्द्र में न रहते हुए अनेक जातियों, संस्कृतियों और इतिहासों के पिरामिड (शंकुस्तूप) के शिखर पर अपने को स्थापित करता रहता है। उसकी कविता की रेखाएँ एक-दूसरे को काटती नहीं, क्योंकि वे एक धरातल की रेखाएँ नहीं होती—इसलिए कि वह कविता एकदिशीय न होकर अनेकदिशीय होती है, 'उसमें दिग्भ्रान्ति के भय का ख़तरा हो तो हो, कम से कम एकदिशीयता की ऊब तो न हो'। उदाहरण के लिए ब्रेख्ट कीएक कविता अनूदित रूप में प्रस्तुत की जा रही है :—

मैं सड़क के किनारे के बन्धे पर बैठा
इन्तजार कर रहा हूँ
गाड़ी का चालक पहिया बदल रहा है।
मुझे किसी भी जगह से लगाव नहीं,
न उससे जहाँ से आ रहा हूँ
न उससे जहाँ जा रहा हूँ,
पर जाने क्या बात है,
मैं बड़ी बेसब्री से
पहिये के बदले जाने का दूभर क्रम
देखे जा रहा हूँ।

इस कविता में जिन्दगी की दुर्निवार और निरुद्देश्य गतिशीलता को व्यक्त करने के लिए मोटर के पहिये बदले जाने की बात उठायी गयी है, जो आज के यान्त्रिक जीवन में बहुत मामूली सी बात है। पर एक मामूली-सी घटना के बयान में केवल एक टिप्पणी जोड़कर कि 'जहाँ से आ रहा हूँ' और 'जहाँ जा रहा हूँ' उन दोनों जगहों से मुझे कोई लगाव नहीं है, पर इसके बावजूद पहिये के बदले जाने में विलम्ब असह्य है—समूचे आधुनिक जीवन की विडम्बना बड़े तीखे ढंग से प्रस्तुत कर दी गयी है। पहिये का बदलाव जितना बाहर घटित होता है, उससे अधिक भीतर, क्योंकि जीवन यन्त्र से अधिक यान्त्रिक मनोभाव से प्रभावित है। ब्रेख्ट ने अपनी एक दूसरी कविता में कहा है कि 'जिस शब्द में दुराव न हो, वह शब्द मूर्खों की भाषा में ही स्थान पा सकता है', इसलिए सामान्य शब्द भी काव्यभाषा में आकर अठपहल बना दिये जाते हैं और चूँकि विशेष शब्द का अठपहल रूप चिर-अभ्यस्त है, इसलिए उसके अठपहल रूप का आकर्षण समाप्त है, पर सामान्य शब्द में पहल की कोर मारने की संभावना अभी शेष है। उसी का सँभल-सँभल कर उपयोग काव्यभाषा के लिए अवलम्ब रह गया है।

वैसे तो प्रत्येक युग की कविता की भाषा में बराबर कुछ ऐसा मिलेगा जो प्रत्यक्ष दिखाई देकर भी हाथ में सामान्य भाषा के वर्गीकरणों में गहा नहीं जा

सकेगा, पर आज की कविता की भाषा के ऊपर यह बात और अधिक सटीक रूप मे लागू हो गयी है। आज की काव्य-भाषा में वाक्य-गठन केवल घटक वाक्य-खडो से पूरा नहीं होता और न वाक्यार्थ की संगति से ही मर्यादित रहता है। काव्य-भाषा का गठन विभिन्न पदांशों (व्यत्ययों या विभक्तियो) की आवृत्ति के द्वारा अर्थ का प्राचीर तैयार करता है।

दूसरी ओर विभिन्न स्तरों पर विचलन (डेविएशन) के संयत विनियोग द्वारा उस प्राचीर के उन कंगूरों को उभारा जाता है जिनके ऊपर अधिक बल देना अभीष्ट रहता है। इसके साथ ही समान रचना-खण्डों के सम्मुखीकरण के द्वारा अर्थों के टकराव और उस टकराव से उद्भूत होने वाले चरम अर्थ के आभास के लिए प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार छन्द के धरातल पर नियमित लय की अपेक्षा अनियमित एवं अप्रत्याशित लय को अर्थ के झटकेदार मोड़ों को द्योतित करने के लिए अधिक महत्त्व दिया जाता है। छन्द के इस प्रकार के विनि-योग के उदाहरण के रूप में *अज्ञेय* की **भोर बेला** कविता की ऊपर व्याख्या की जा चुकी है।

व्याकरण के स्तर पर विचलन का प्रयोग *कमिंग्स* ने कुछ अतिरेक के साथ किया है,पर किसी-न-किसी मात्रा में प्रत्येक कवि को इसका सहारा लेना पड़ता है, उदाहरण के लिए जब *कमिंग्स* कहते हैं :

उसने अपना **न किया** गाया और **किया** नाचा, 'ही सैङ् हिज डिड्न्टे, ही डैन्स्ड हिज डिड' तो **न किया** और **किया** क्रियारूपों को सिद्ध संज्ञाशब्द के रूप में पुन प्रस्तुत करके व्यापारवाचक शब्द को एक अतिशय महत्त्व प्रदान करना ही उनका लक्ष्य है, चौंकाना लक्ष्य नहीं है। सामान्य भाषा में पूरी तरह डूबकर काव्य-भाषा केवल अपने उद्देश्य की अद्वितीयता के कारण सामान्य भाषा के स्थिर और सुनिश्चित सम्बन्धों को तोड़ने के लिए विवश होती है। वह नये सम्भावित अर्थ के लिए एक पेशबन्दी तैयार करती है। इस पेशबन्दी का उद्देश्य भाषा के व्यवस्थापक नियमों में तोड़-मरोड़ लाना नहीं है, बल्कि भाषिक व्यापार के सामान्यतः स्वीकृत लक्ष्यों को नया विस्तार और नया मोड़ देना है। दूसरे शब्दों में, काव्य-भाषा सामान्य भाषा को यन्त्रबद्धता से मुक्त करके नयी उद्भावना के लिए गतिशील बनाने के लिए ही तदनुकूल अन्वयों और रूपान्तरों के साधन प्रस्तुत करती है, जो देखने में व्याकरणभग या विचलन प्रतीत होते हैं। विस्तार में इसे आगे समझाया जायेगा।

आधुनिक कवियों को 'शब्दों का कीमियागर' भी कहा जाता है। उनके पास सच्चा 'सुवरन' खोजने की एक तो फुरसत नही, दूसरे 'सुवरन' का पानी चढाना इतना सुलभ हो गया है कि 'सुवरन' और 'कुवरन' में भेद करना कठिन हो गया है, इसलिए वह लोहे और जस्ते को 'सुवरन' में रूपान्तरित करने के नुस्खे आज़माता

है। इससे दो लाभ होते हैं : एक तो सामान्य से सामान्य पाठक से सम्पर्क-सूत्र नही टूटने पाता, दूसरे भाषा अनावश्यक विस्तार और घुमाव में न पड़कर बहुत संक्षिप्त और आक्रामक हो जाती है। जापानी कवि *वाकायामा* बोकुसुई की एक छोटी-सी कविता से यह बात निर्दशित की जा सकेगी :

पहाड़ियाँ सोयी हुईं,
उनके पैरों पड़ा ऊँघता हुआ समुद्र ;
वसन्त की वीरानी को चीरता हुआ
मैं आगे निकल जाता हूँ।

चार पंक्तियों में चार चित्र हैं, एक ऊँचाई है जो सोयी हुई है, एक अनन्त शाश्वतता का बोध है जो ऊँघ रहा है, एक पुनर्नवीकरण है जो वीरान है और अन्त में इनसे अनभिभूत एक 'मैं' है, जो आगे निकल जाता है। आदर्श और शाश्वत मूल्य जब प्रसुप्त हों, जब पुनर्नवीकरण केवल उजड़ाव तक सीमित हो तो जीवन-यात्रा कितनी अकेली और कितनी साहस भरी होगी, इसकी प्रतीति इतने कम शब्दों में (समापिका क्रियाओं का केवल एक बार प्रयोग करते हुए) कवि आधुनिकता की कालवेधी संवेदना को बहुत संक्षिप्त और सशक्त अभिव्यक्ति देता है। आक्रामकता के लिए ही आधुनिक काव्य-भाषा ने उपहास और व्यंग्य का तेवर अख्तियार किया है। उदाहरण के लिए *गोविन्दचन्द्र पाण्डेय* की **विश्व-विद्यालय** शीर्षक कविता ली जाय—

सूखी सरिता के सूखे तल
उतर रहे सीढ़ी से स्तर
कुछ अटका जल
लुप्त कभी के गड़े पुराने धन
रोड़ों पर काँटे उगे हरे
चकवड़ की घास उलझती
सभी जगह
गाय-भेड़ रँभाते सूखे थन। **(अग्निबीज)**

'गड़े पुराने धन' और 'सूखे थन' में विश्वविद्यालयीय शिक्षा की रूढ़िग्रस्तता और अनुर्वरता पर ही चोट की गयी है, पहले खण्ड में रस सूखने का दृश्य है, दूसरे में बेतरतीब हरियाली और बेमतलब रँभाने का। पहले खण्ड में चोट अध्यापक पर हैं, दूसरे में छात्रों पर। पर दोनों खण्डों में कहीं भी शब्द का अप-व्यय नहीं है, न किसी ऐसे शब्द या बिम्ब का प्रयोग है, जो विशिष्ट कहा जा सके, पर सामान्य शब्दों को ऐसा विनियोजित किया गया है कि अभीष्ट अर्थ बहुत पैनेपन के साथ उतर आता है।

इस प्रकार आज के कवि के समूह-सम्प्रेषण से उद्‌भूत समस्याओं से जूझने के

लिए नये हरबा-हथियार तैयार कर रहा है। कुछ कवि हथियार चमकाने में ही रह जाते हैं, कुछ उन्हें माँज भी लेते हैं, केवल समर्थ कवि उनका सफल प्रयोग कर पाते हैं, क्योंकि लक्ष्य इतनी तेजी से बदल रहा है कि तनिक भी नजर चूके तो वार खाली जाने का ही नहीं, वार अपने ऊपर लौट आने का खतरा भी सन्निहित है। ब्रेख्ट की कविता के एक उद्धरण से आधुनिक कविकर्म की परेशानी की एक झलक मिल सकती है—

कैसा समय आ गया है
जब पेड़-पत्तियों के बारे में
बात करना गुनाह हो गया है
क्योंकि बात करने का अर्थ
बहुत सारी बुराइयों के बारे में
चुप रह जाना है।

आधुनिक काव्यभाषा की इन जीवन्त समस्याओं ने काव्यशास्त्र की भाषा की बाह्य कसौटियों को बुरी तरह झुठला दिया है। इन समस्याओं के प्रति या तो आधुनिक रीति-विज्ञान सवेदनशील है या भारतीय वाक्केन्द्रित चिन्तन ही।

भारतीय काव्य-दृष्टि अन्तर्गठन पर बल देती है, इसीलिए वह सतही यथार्थ को महत्त्व न देकर शुद्ध और बाह्य प्रभावों से परिशोधित गणितीय यथार्थ पर देती है। उसमें निहित शब्दार्थ-व्यापार सबसे अधिक वस्तुरूप में यथार्थ रहता है। आज का संघटनात्मक काव्यशास्त्र भी बाह्य परिवेश की अपेक्षा काव्य के भीतरी परिवेश को अधिक यथार्थ मानता है, इसीलिए अब यह संभव माना जाने लगा है कि काव्य-भाषा का विश्लेषण बाह्य परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर अधिक सघनता और गहराई के साथ किया जा सकता है और इस विश्लेषण के लिए ऐसे सिद्धान्त प्रतिपादित किए जा सकते हैं, जो हर भाषा और हर समय के काव्य-रूप की समीक्षा पर लागू किए जा सकते हैं। शैली के सम्बन्ध में प्राचीन पश्चिमी मान्यताएँ खण्डित हो चुकी हैं कि 'रीति' (शैली) रचनाकार का व्यक्तित्व है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि शैली रचनाकार के द्वारा चुनी गयी सभावनाओं और साँचों का गुम्फन है, पर ये सम्भावनाएँ और साँचे रचनाकार के नहीं उसकी भाषा के हैं, इस कारण रीति का भी वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव हो गया है। यदि रीतियों में वैविध्य दीखता हैऔर उस वैविध्य के आधार पर शैलीकार को पहचाना जा सकता है तो यह स्वयं प्रत्येक प्रकार की रीति में एक तरह के सँवारे साँचों के अभ्यास से उत्पन्न उस रीति की आविच्छिन्नता के कारण, न कि शैलीकार की निजता के कारण।

ऊपर जो बात काव्य-भाषा के सम्बन्ध में कही गयी है वह कुछ उपादानों को छोड़कर (छन्द रागबोध तथा संक्षिप्त-तर शब्द-योजना) साहित्य-मात्र की भाषा

पर घटाई जा सकती है और आधुनिक भाषा-विज्ञान तथा प्राचीन भारतीय शब्दार्थ-चिन्तन को साहित्य-भाषा-मीमांसा के सार्वभौम सिद्धान्त-शास्त्र के रूप में सामने लाया जा सकता है। विगत दशक में इस दिशा मे पश्चिम में प्रयत्न बड़ी तेज़ी से शुरू हुए है, परन्तु हम तो अपने समानान्तर प्राचीन चिन्तन को अलंकार-शास्त्र कहकर हेय समझ रहे हैं, इसीलिए हमारा आज का काव्य-चिन्तन बहुत उलझा हुआ है और आत्मनिष्ठ है। प्राचीन अलंकार-शास्त्र और नवीन भाषा-शास्त्र दोनों अलग-अलग सार्वभौम काव्य की मीमांसा के सिद्धान्त प्रतिपादित करने में समर्थ नहीं हो पाये हैं, पर दोनों के अंशदान एक-दूसरे के पूरक के रूप में यदि स्थापित किये जाएँ तो काव्य-भाषा की सही-सही सार्थकता सर्जनात्मक रूप में नापी जा सकेगी।

३

सादृश्य-विधान

काव्यभाषा में सादृश्य-विधान साभिप्रायता की खोज के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यहाँ जिस रूप में सादृश्य-विधान की चर्चा प्रस्तावित है, वह एक ओर बिम्ब-विधान से और दूसरी ओर प्रतीक-विधान से बिलकुल अलग है, साथ ही यह सादृश्य की एक व्यापक परिकल्पना पर आधृत है। प्राय: यह समझा जाता है कि एक वस्तु जो जानी-पहचानी है, उसके द्वारा नयी जानी जानेवाली वस्तु का बोध कराना सादृश्य-विधान का उद्देश्य है। यह ज़रूर है कि जानी-पहचानी वस्तु का महत्त्व उसके लोक-प्रसिद्ध उस प्रमुख-गुण के कारण होता है, जो वर्ण्य वस्तु में भी है, यह बतलाने के लिए जानी-पहचानी वस्तु से वर्ण्य-वस्तु के सादृश्य की कल्पना की जाती है। उदाहरण के लिए मोती जैसे दाँत—ऐसा वर्णन जब किया जाता है, तो यद्यपि उज्ज्वलता मोती में भी है और दाँत में भी, किन्तु उज्ज्वलता के लिए प्रामाणिक रूप से लोक में मान्य मोती अधिक है, दाँत उतना नहीं, इसलिए यदि दाँतों का कोई प्रामाणिक मुख्य धर्म सोचा जायेगा, तो वह उसके कटाव का क्रम होगा, इसलिए उसके इस गुण को लेकर 'दन्तुरपुष्पराजि' जैसे सादृश्य-विधान उपयुक्त होंगे, क्योंकि वहाँ दाँत का प्रसिद्ध धर्म उज्ज्वल होना नहीं, कटावदार होना है। पर गहराई में जाने पर सादृश्य-विधान के इस सतही उद्देश्य के अलावा एक और भी उद्देश्य है; वह उद्देश्य है : एक साथ दो प्रकार की वास्तविकताओं का साक्षात्कार करते हुए दोनों का संयोजन। 'सदृश' शब्द का अर्थ भी साथ दीखने वाला है। सर्जनात्मक सादृश्य-विधान के लिए यह आवश्यक है कि इस प्रकार के दो विभिन्न धरातलों की मौजूदगी का आभास ऐसे हो जैसे कि आमने-सामने 'मैं' 'तुम' के रूप में खड़े व्यक्तियों का होता है और यह आभास जितना ही अधिक सघन होगा, उतना ही सादृश्य-विधान का सर्जनात्मक-उपयोग किसी रचना में हो सकेगा।[1]

एक 'ज़ेन' कथानक के द्वारा इसका निदर्शन कुछ और स्पष्ट रूप से किया जा सकता है। एक शिष्य गुरु से पूछता है—यदि सिद्धार्थ-गौतम की अपेक्षा बुद्ध कुछ अतिरिक्त है तो बुद्ध या तथागत का वास्तविक स्वरूप क्या है? गुरु ने उत्तर

दिया : 'खूबानी की कुसुमित शाखा।' शिष्य ने समझा—गुरु ने प्रश्न सुना नहीं, उसने पुनः पूछा कि 'मैं यह जानना चाहता हूँ कि बुद्ध क्या हैं ?' गुरु ने पुनः उत्तर दिया : 'नील जलधि में मस्ती से तैरती हुई सुनहले पंखों वाली गुलाबी मछली।' शिष्य ने घबड़ाकर फिर पूछा : 'क्या आप बतलाना नहीं चाहते कि बुद्ध क्या है ?' और गुरु ने उत्तर दिया—'रात के आसमान में शान्त और हिमशीतल पूर्णचन्द्र-तिमिराच्छन्न घास के मैदान को रुपहला बनाते हुए'। बार-बार मूल प्रश्न से गुरु का कतराना एक अर्थ रखता है, वह दृष्टिहीन शिष्य की आँख, मन और बुद्धि को खोलने के लिए प्रेरित करता है और उसे बार-बार किसी एक बिन्दु पर टिकाने के लिए उकसाता है, जिससे उस बिन्दु पर स्थित वास्तविकता की मौजूदगी वह गहराई में समझ सके। 'होने'की चरम स्थिति 'अमूर्त' या बहुत परे या दूर भविष्य में घटित होने वाली नहीं है, वह रोज़-मर्रा की चलती-फिरती जिन्दगी में है या उसके किसी पहलू मे है और उसको किस रूप में सजगता और ग्रहण-शीलता से अपनाया जा रहा है, इसी में उसका स्पष्ट दर्शन सम्भव है।[२]

सादृश्य में वास्तविकता के दर्शन के लिए एक गहन दृष्टि होती है। सादृश्य में सम्पृक्त वस्तुएँ एक-दूसरे से समीकृत नहीं होतीं, अर्थात् यह नहीं होता कि उनमें से एक को हटा दिया जाय—उक्ति के धरातल पर चाहे कभी-कभी अध्याहार के रूप में ही स्थित हो, लेकिन दोनों कोटियों की स्मृति बराबर बनी रहती है। सादृश्य की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि बहुत से सत्य ऐसे होते हैं,जिनके बारे में अधिकतम परिच्छिन्नता की कसौटी लागू नहीं होती और जिन्हें परोक्ष-रूप से—अर्धव्यक्त रूप से—पराश्रित केन्द्र-बिन्दु के सन्दर्भ में ही देखा जा सकता है। जब कभी ऐसी स्थिति आती है कि किसी वस्तु को ठीक-ठीक बतलाने के लिए रूढ़ अभिव्यक्ति न केवल अपर्याप्त लगती है, बल्कि काफी भ्रामक भी। उदाहरण के लिए : कभी-कभी केवल सुन्दर कह देने से भ्रम हो सकता है कि किस प्रकार सुन्दर; और यह भी प्रश्न उठ सकता है कि उस प्रकार के 'सुन्दर' का सन्दर्भ यहाँ क्यों आवश्यक है—तब निराकरण का एक ही मार्ग सामने रहता है, सादृश्य के सहारे जिस भी विशेषाधायक गुण को ठीक-ठीक बतलाना हो, प्रसिद्ध उपमानों के द्वारा बताया जाय और इस भंगिमा से बताया जाय कि उस प्रकार की विशिष्ट सादृश्य-योजना उस सन्दर्भ विशेष में सार्थकता रखे। इसी को एलेन वाट्स ने 'वस्तुओं की तथता' (सच्नेस)[३] कहा है और इसी को सर्जनात्मक भाषा का प्रमुख और सबसे अधिक सीधा-सादा गुण मानते हुए इसे काव्यगत सत्य का नवोन्मेष भी मानना चाहिए। कभी-कभी दिये गये शब्दों के द्वारा इस प्रकार की नवीन तथता व्यक्त करना कठिन हो जाता है, क्योंकि अभिव्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार की रूढ़ और प्राग्-अनुभूत तथ्य की संवादी होने के कारण अवरुद्ध हो जाती है, तब जैसा कि हापकिन्स[४] ने कहा है : "संवेदनशील चित्त इस प्रकार की तात्का-

लिक तथता को, दृश्य-रूप में प्रत्येक अद्वितीय वस्तु की विशिष्टात्मकता को, ग्रहण करता है और एक प्रकार के भीतरी परिदृश्य की संरचना में उस वस्तु को स्थापित करता है।" उन्होंने एक उदाहरण दिया है : "वृक्षों के शिखरों से हल्के नीले मकड़ी के जालों की तरह चाँदनी लटक रही है।" इस उदाहरण में सादृश्य केवल एक साधन है, सीधी चोट अभिप्राय और इस सादृश्य-विधान के द्वारा उत्पन्न किये गये प्रभाव पर है। इस सादृश्य-विधान के द्वारा चाँदनी के जादुई और अपरूप प्रभाव को व्यक्त करना अभिप्रेत है, साथ ही वृक्षों की सघन श्यामता को चाँदनी की आभा के विसंवादी के रूप में खड़ा करने के लिए वृक्षों के शिखरों को सामने लाना आवश्यक है। एक अचल मानसिक निविड़ता के उत्कर्ष के ठीक विरोध में एक-दूसरे प्रकार की जादुई आभा को लाना भी इससे संकेतित है। इसी प्रकार के सादृश्य-विधान का एक-दूसरा उदाहरण संस्कृत-काव्य से लिया जा सकता है—

निःश्वासान्ध इवादर्शः चन्द्रमा न प्रकाशते (वाल्मीकि-रामायण, किष्किन्धा-काण्ड)—अर्थात् हेमन्त की रात में चन्द्रमा ऐसा धुँधला हो जाता है, जैसे आईने पर किसी ने गहरी साँस छोड़ी हो और वह आईना अँधरा गया हो। इस सादृश्य-विधान के पीछे हेमन्ती रात की पृष्ठभूमि में चन्द्रमा स्थापित किया गया है और उस रात के प्रभाव में रात के साथ मन में बसे हुए समस्त आवेग उसी प्रकार अपारदर्शी हो जाते हैं जैसे अँधराया आईना। आईने को उपमान रूप में ग्रहण करने से ही उसको हाथ में पकड़ कर अपना मुँह देखने वाला कोई व्यक्तित्व भी अपने आप मन में उभर जाता है; वह व्यक्तित्व और किसका हो सकता है, सिवा नाना आभरणों वाली यामिनी का।

इस प्रकार इस सादृश्य-विधान के पीछे एक साभिप्रायता है,जो केवल चन्द्रमा को धुँधला बना देने से कभी भी प्रकट नहीं हो सकती थी। होता यह है कि ऐसे सादृश्य-विधान के पीछे दो व्यापार काम करते हैं—एक तो कहने और न कह पाने के बीच का तनाव या दो सतहों—दो भिन्न प्रकार की विसंवादी स्थितियों—के बीच का तनाव; दूसरे, परिदृश्यात्मक निजता, प्रत्येक वर्ण्य-वस्तु की देखे जाते समय एक निजता विशेष दृष्टि से देखे जाने के कारण, उद्भूत हो जाती है और ये दोनों चीजें (परिदृश्यात्मक निजता और वस्तुधर्मता) तब तक अवास्तविक बनी रहती हैं, जब तक कि अनुकूल शब्दों का जादू उन्हें एकाएक वास्तविकता नहीं प्रदान कर देता और विचार को ऐन्द्रिय गन्तव्य तक संयोजन-शक्ति के प्रभाव से पहुँचा कर तनाव और निजता के दो पहलुओं के द्वारा ऐसी वास्तविकता का उन्मीलन नहीं कर देता, जहाँ पहुँच कर ही आदमी प्रभाव की समग्रता को ग्रहण कर सकता है।[१] जीवित भाषा का यह तनावभरा स्वरूप किसी भी भाषा जीनेवाले के वश का नहीं कि वह इससे बच सके; वह कितना भी निजी अनुभव की समृद्धि क्यों न रखता हो, भाषा जब तक सजीव है, तब तक बराबर कुछ-न-कुछ तनाव—

ध्यान के लिए उज्ज्वल केन्द्र-विन्दु बनी विशिष्टात्मकता में तथा उन-उन सामान्य-गुणों, अर्थों और परिदृश्यों के धुँधले अपारदर्शी प्रभाव के बीच, जो हेय समझकर छोड़े जा चुके है—बना ही रहेगा।[६] सुनी गयी कविता में यह तनाव एक और नया आयाम लेता है। जो पढ़ा जा रहा है,और जो पढ़ने वाला सजीव कण्ठ है,इन दोनों के बीच इस प्रकार एकप्रकार से काव्य-पाठ का क्षण एक नाटकीय संवाद का क्षण होता है, क्योंकि उसमें पढ़ने वाले और जो चीज़ पढ़ी जा रही है, उन दोनों के बीच एक चढ़ा-ऊपरी बराबर लगी रहती है, विशेषत: जब काव्य-पाठ प्रभावोत्पादक ढंग से किया जा रहा हो। इसलिए काव्यार्थ के ग्रहण के लिए आवश्यक रहता है कि काव्य-पाठ के लिए वही स्वर अपनाया जाय, जो कविता के अभिप्रेत अर्थ के अनुकूल, आरोह-अवरोह के प्रसार से अभिभूत हो और वाचक कवि की निजी कविता-निरपेक्ष संवेगात्मक रंगतों से मुक्त हो। यह स्थिति आदर्श ही हो सकती है, वास्तविक व्यवहार में तो कुछ-न-कुछ कमी बनी ही रहती है। तनाव का एक अन्तिम आयाम साधारणीकरण के भीतरी स्वरों और वर्ण्यमानविशेष के ऊपरी स्वरों के बीच रहता है; दूसरे प्रकार के तनाव का समाधान अनुकूल ध्वनि-संरचना के द्वारा—जिसको अर्थमूलक सादृश्य-विधान के अन्तर्गत न लें, ध्वनिमूलक बौद्धिक सादृश्य के अन्तर्गत तो ले ही सकते है—हो सकता है, तनाव के तीसरे आयाम की अभिव्यक्ति तो निश्चय ही सबसे अधिक सीधे और प्रभावशाली ढंग से ऐसे अर्थमूलक सादृश्य-विधान के द्वारा ही सम्भव होती है, जिसमे साधर्म्य बदल जाता है, या ठीक-ठीक कहें, समानान्तर हो जाता है। अलंकार की भाषा में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, तुल्ययोगिता, दीपक, सहोक्ति जैसे अलंकारों के द्वारा सदृश से अधिक समानान्तर उक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। ऊपर जो जीवित भाषा की सादृश्य या समानान्तर की ओर मुँह जोहने की लाचारियों की बात की गयी है, उससे यह निष्कर्ष निकालना कि सादृश्य-विधान प्रत्येक स्थिति में अपरिहार्य है, बहुत बड़ी भ्रान्ति होगी। इस बात को समझने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा, प्राकृत की एक गाथा है :

अइंसणेण पेम्म अवेइ अइदंसणेवि अवेइ
पिसुणजणजंपिएण अवेइ एमेव पि अवेइ ।। (गाहासत्तसई)

इसका अर्थ यह है कि "एकदम मिलना-जुलना न हो, तो प्रेम चला जाय, बहुत ज्यादा मिलना-जुलना हो तो भी प्रेम चला जाय, कुछ लोग झूठ-मूठ कान भरनेवाले हों, तो भी प्रेम चला जाय और कुछ न हो, यों भी प्रेम चला जाय।" इसमें कोई सादृश्य-विधान नही है। प्रेम चला जाता है, इसकी पुनरुक्ति चार बार होती है, और जो कारण सबसे हलका है, वह सब से अन्त में आता है। जो कारण सबसे गम्भीर है, वह सबसे पहले और उत्तरोत्तर हलके कारण दिये जाते

है। इसके पीछे निहित अभिप्राय यह है कि मानवीय प्रेम की क्षण-भंगुरता ही ऐसी अनिवार्य गति है कि कारण का कोई व्याज हो, या ऐसी भी स्थिति हो सकती है कि व्याज न भी हो तो एक दुरन्त शोचनीय स्थिति के रूप में है और रहेगी। यहाँ क्षण-भंगुरता के लिए कोई भी उपमान—'यों ही चला जाता है' की चरम परिणति को व्यक्त करने में उतना समर्थ न होता, जितना उत्तरोत्तर हलकेपन के क्रम में आकर एक ऊपर से सीधी-सपाट और भीतर से अर्थ-गर्भ उक्ति— 'यों ही चला जाता है'— समर्थ है। इस उदाहरण को देने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि सादृश्य-विधान सजीव भाषा का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, किन्तु एकमात्र साधन नहीं।

सादृश्य-विधान को ठीक तरह से समझने के लिए आवश्यक है कि सादृश्य-विधान और प्रतीक-विधान में क्या अन्तर है, यह भी साथ-साथ समझ लिया जाय। मनुष्य के बारे में कहा जाता है कि वह प्रतीक रचनेवाला एकमात्र प्राणी है। दूसरा पक्ष यह भी है कि जो कुछ भी मनुष्य रचता है, वह एक प्रकार से प्रतीक बन जाता है। प्रतीक ही वह जादुई कुंजी है, जो सभी द्वारों को खोल सकती है, सभी प्रश्नों का समाधान कर सकती है। हमारा चिन्तन ही एक प्रकार से प्रतीकात्मक है, परन्तु यही फिर एक प्रश्नवाचक चिह्न सामने खड़ा हो जाता है- क्या प्रतीक सर्जन की माँग पूरे तौर से पूरी कर सकता है? कला-बोध या काव्य-बोध के क्षेत्र में आने पर सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि प्रतीक से पूरा-पूरा काम नहीं चलता। प्रतीक अत्यन्त स्पष्ट, परिच्छिन्न और उपादेय होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं, और सादृश्य ऊपर से अस्पष्ट, उलझा हुआ, अनुपादेय और मानव-चिन्तन के लघुताग्रही महत्त्व को कम करने वाला भी लगता है। कभी-कभी तो यह एक अनावश्यक और अतिरिक्त सजावट-सा प्रतीत होता है, किन्तु जहाँ कहीं अर्थ बने-बनाये सिद्ध प्रतीकों से पूरा-पूरा नहीं गृहीत हो सकता, वहाँ प्रतीक को छोड़ने की लाचारी सामने आ जाती है।[७] विज्ञान या गणित में परिच्छिन्न और स्पष्ट प्रतिपादन अत्यन्त आवश्यक होता है और वहाँ धुंधलेपन के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती, पर किसी भी प्रभावशाली सर्जना में—और भाषा तो निस्सन्देह सबसे अधिक सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण सर्जना है—अत्यन्त स्पष्टता या परिच्छिन्नता नये अनुभवों, संवेगों और सर्जनात्मक संयोजनों को अभिव्यक्ति देते समय एक बेड़ी बन जाती है और उस समय इसके सिवा कोई चारा नहीं रहता कि अभिव्यक्ति को गति देने के लिए बने-बनाये प्रतीकों में से उपादान-सामग्री लेकर सादृश्य की संरचना के द्वारा कहने की कोशिश की जाती है। जब कभी वस्तुओं को विश्लिष्ट और व्यवच्छिन्न इकाइयों के रूप में देखने की आवश्यकता होती है, तब प्रतीक बहुत उपयोगी होता है। प्रतीक अलग रह कर भी एक अर्थ दे सकता है, उसे भीतरी सन्दर्भ और नैरन्तर्य की अपेक्षा नहीं होती, किन्तु जब यह

व्यवच्छिन्नता अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच जाती है, तो संक्षिप्त होते-होते प्रतीक मात्र-प्रतीक रह जाता है, दूसरे शब्दों में एक अर्थहीन अमूर्तीकरण।[८] जहाँ एकता या अन्विति आवश्यक लक्ष्य हो और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जहाँ विश्लेषण आवश्यक साधन के रूप में अपेक्षित हो, वहाँ प्रतीक की उपयोगिता असंदिग्ध है, किन्तु जहाँ अनेकार्थगर्भता और पूर्णता लक्ष्य हो और संश्लेषण के द्वारा इनको ग्रहण करने पर बल देने की अपेक्षा हो, वहाँ बीच के रिक्त स्थान के लिए या पारदर्शी अलगाव के लिए कोई गुंजाइश नहीं। यहीं तक बात समाप्त नहीं होती, विश्लेष में वस्तुओं को स्थापित देखने पर सौन्दर्य-बोध की समग्रता भी खण्डित हो जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि प्रतीक का उपयोग कला या साहित्य में है ही नहीं, केवल इतना ही इससे दिखलाने की चेष्टा की जा रही है कि प्रतीक की एक सीमा है और जो कला या साहित्य के क्षेत्र में उसे अयथेष्ट साधन ही मानती।

वस्तुतः प्रतीक किसी भी संस्कृति में मानव-मन के द्वारा स्थापित कुछ निश्चित सम्बन्धों का ज्ञापन कराता है। उदाहरण के लिए— सौन्दर्य के प्रतीक के रूप में भारतीय संस्कृति में 'कमल' को स्वीकार करना या मातृत्व के प्रतीक के रूप में फल से झुकी हुई डाल को स्वीकार करना—दो चीजों की सूचना देते हैं। पहली तो यह कि इस संस्कृति के बाहरी परिवेश में 'कमल' या 'फलों से झुकी हुई डाल' का एक यथार्थ रूप है और वह रूप अत्यन्त परिचित है। दूसरी यह कि सौन्दर्य और मातृत्व में जिन मूल्यों की अवधारणा इस संस्कृति में की गयी है, उन मूल्यों को मूर्त्तरूप देने की कोशिश करते समय 'कमल' और 'फलों से झुकी डाल' बहुत परिचित और उपयोगी संकेत के रूप में परिलक्षित होते हैं, क्योंकि कमल का सम्बन्ध मसृण और गदराये स्पर्श से, मधुर-कषाय रस से, हल्की-भीनी गंध से, सूर्य की किरणों से उद्‌भिन्न होने वाले शतदल-रूप-वैभव से और उसके मधुकोष से आकृष्ट भौंरों के कल-निनाद से ऐन्द्रिय व्यापार के स्तर पर एक ओर, साधना के विभिन्न सोपानों के साथ कल्पित मानसिक आकृति के रूप में मानस-स्तर पर तथा श्री के उत्पत्ति-स्थान और सरस्वती के आसन के रूपों से बौद्धिक स्तर पर दूसरी ओर बहुत काल से परिनिष्ठित है। सौन्दर्य के बारे में भी लगभग इसी प्रकार के मूल्य इस संस्कृति में स्वीकृत हैं, क्योंकि सौन्दर्य में ऐन्द्रिय-प्रीति के साथ-साथ मन और बुद्धि की प्रीति भी उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिये। कमल में सौन्दर्य का वह सर्वांगीण बोध संकेतित करने की क्षमता है। इसी प्रकार 'फलों से झुकी डाल' में पेड़ लगाने वाले की अभिलाषा की पूर्ति, पेड़ के पल्लवन-कुसुमन आदि दशाओं की 'फलन' में चरम परिणति, एक प्रकार से दूसरे के लिए अपने को अर्पित करने में उसकी वास्तविक सार्थकता तथा इस उत्कर्ष में भी उसकी सहज विनम्रता जैसे गुण ही उसे सन्तान-प्रसविनी के रूप में सार्थक स्त्रीत्व से और सर्जन की शृंखला को नये सिरे से प्रवर्तित करने वाले महिमा-

शाली पर उदार और आत्मोत्सर्गपरायण मातृत्व से जोडते हैं। यहाँ 'प्रतीक' और 'प्रतीयमान' के बीच एक निश्चित सम्बन्ध है, जो इस संस्कृति के परिवेश से नियन्त्रित है। साहित्य और कला में इनका उपयोग अतिरेक को न प्राप्त हो, यह आवश्यक भी है और अपरिहार्य भी, किन्तु सांस्कृतिक परिवेश मे परिवर्तन के कारण अथवा परिचित सम्बन्धों से अतिरिक्त सम्बन्धों को जोड़ने की आवश्यकता के कारण अथवा किसी नये मूल्य के आग्रह के कारण इन प्रतीकों के माध्यम से सौन्दर्य या मातृत्व का पूरा बोध जब सम्भव नहीं हो पाता है, तो सादृश्य का सहारा लिया जाता है। ऐसे सादृश्य के लिए मूर्त्त और अमूर्त्त, ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय, हर प्रकार के आधार आवश्यकतानुसार लिये जाते हैं। लोकगीतों में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति 'अधकपटे गीत' के सदृश के रूप में की गयी है। वहाँ एक सूक्ष्म ऐन्द्रिय-बोध का आधार लिया गया है। जिस प्रकार कोई गीत सुना जा रहा हो, बीच में ही ऐसा व्यवधान पड़ जाय कि गीत पूरा न सुना जा सके और वह एक अतृप्त आकांक्षा की गहरी छाप छोड़ कर चला जाय, उसी प्रकार सौन्दर्य की प्रतीति एक अतृप्य लालसा को उत्पन्न करने वाली शक्ति के रूप में जब वांछित हो, तो वहाँ सौन्दर्य के पुराने मूल्य-बोध से बँधा हुआ 'कमल' अयथेष्ट होगा। 'कमल' उपमान हो सकता है और होता है, पर वहीं पर जहाँ परिचित भावबोध को दुहराने की आवश्यकता होती है, किन्तु जहाँ कहीं भी कोई नया अतिरिक्त आग्रह होगा, वहाँ उसको उपमान बनाने से भी काम नहीं चलेगा, यद्यपि उपमान बना देने से प्रतीक की अपेक्षा कुछ अधिक छूट मिल जाती है। नये उपमानों का प्रवेश साहित्य की भाषा में अपरिहार्य है।[६] जैसा कि इसके पहले भी कहा जा चुका है कि किसी भी भाषा की आत्मा उसकी प्रक्रिया में है, उसके सिद्ध प्रतीकों की या प्रतीको की तरह अतिप्रयोग से सिद्ध उपमानों की व्यवस्था होने में नहीं। सिद्ध प्रतीको की व्यवस्था के रूप में भाषा यान्त्रिक-परिवेश के लिए एक उत्कृष्ट सम्प्रेषण का माध्यम हो सकती है और सच पूछा जाय तो इस प्रकार के सम्प्रेषण के लिए तो एकदम कृत्रिम भाषा और भी अच्छे रूप में उपयोगी सिद्ध हो सकती है, लेकिन जब यन्त्रवत् आदेश पालन करने के अतिरिक्त किसी भी प्रकार के बोध की अपेक्षा की जाती है, जब आदमी आदमी को जीवन की प्रक्रिया में जीने वाली जीती-जागती स्पन्दित चेतना के रूप में समझने की कोशिश करता है, तब न तो सिद्ध शब्द अकेले और न उनका कोई पूर्वनिश्चित क्रमानुसार संयोजन ही अपेक्षित प्रयोजन को वहन करने में समर्थ हो सकता है। केवल बोली जाने वाली भाषा की प्रक्रिया ही उस प्रयोजन को वहन कर सकती है। यही पर प्रतीक की अयथेष्टता बाधा के रूप में आ खड़ी होती है, क्योंकि प्रक्रिया की दशा में शब्द सिद्ध और साध्य के बीच एक तनाव की स्थिति में आ जाते हैं और तभी वे प्रतीकों की रूढ़ता का अतिक्रमण करके एक ऐसे अर्थ तक पहुँचते हैं, जो सतही यथेष्टता और निश्चित प्रतीयमानता

के आगे चला जाता है। यह प्रक्रिया सादृश्य की ही प्रक्रिया है। सादृश्य का काम ही है—किसी भी शब्द या संकेत के बँधाव और अपकर्ष को तोड़ना।[१०] जो कोई भी यह भलीभाँतिसमझ चुका है कि शब्द अपने आप में अकेले अर्थ नहीं हैं, बल्कि यह आगे-पीछे ऐसी प्रक्रिया के भीतर गुजरने के कारण, जिसमें शब्द अपना विलग अस्तित्व खो देता है, अनेक सन्दर्भों से सम्पृक्त होकर ही अर्थ बनता है। सर्जनात्मक भाषा शब्दों के स्पष्ट अभिधान से अधिक अर्थ के स्पष्ट अभिधान की माँग करती है, ताकि सोचने और बोलने की प्रक्रिया का स्वाभाविक प्रवाह बना रहे। सादृश्य का प्रयोग इसीलिए कुछ छिपा रखने के लिए नहीं, बल्कि कुछ अधिक सार्थक रूप में उन्मीलित करने के लिए साहित्य में किया जाता है। चूँकि उन्मीलित करने का यह प्रयत्न ही स्वयं किसी प्रकार के धुँधलेपन के कारण प्रारम्भ होता है—चाहे यह धुँधलापन अर्थ की सपाटता के ही कारण क्यों न आया हो—इसलिए सादृश्य में खोलने की इच्छा होते हुए भी सबकुछ एकदम खोल नहीं दिया जाता, कुछ आगे के लिए भी खोलने की सम्भावना उसमें भीतर रख दी जाती है। यह न हो तो साहित्य की भाषा की निरन्तर सर्जन-क्षमता ही नष्ट हो जाय। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य अवश्य है कि सादृश्य-विधान भी अपने आप में साहित्य का प्रयोजन नहीं, साहित्य की लाचारी है और यह इसीलिए तभी उचित संगति रखती है जबकि वह लाचारी नकली न हो, अभिव्यक्ति के संकट से उद्भूत हो। जहाँ कानों में जौ के अंकुर खोंसने से काम चल सकता है, वहाँ भी यदि सोने का झुमका पहनाया जाता है तो वह शोभा के लिए नहीं प्रदर्शन के लिए होता है। उसी प्रकार जहाँ सादृश्य का सहारा लिये बिना कुछ सीधे-सादे शब्दों के उचित-विन्यास से ही प्रयोजन चरितार्थ हो जाता हो, वहाँ सादृश्य अनावश्यक सजावट ही प्रतीत होता है, उसे शोभा का विधायक नहीं माना जा सकता, केवल रचनाकार में सुरुचि के अभाव का ही प्रमाण मानना होगा। प्राकृत की एक गाथा है·

> **दीसइ ण चूअमउलं अत्ता ण अ वाइ मलयगन्धवहो।**
> **पत्तं वसन्तमासं साहइ उक्कंठिअं चेअम्॥**

जिसका अर्थ यह है कि 'आम में बौर नहीं आये, मलयगन्धवह नहीं चली, पर चित्त उत्कंठित हो गया, कभी-न-कभी बसन्त जरूर आ गया होगा।' इसमे आशुलेखात्मकभाषा का प्रयोग है, दो अत्यन्त परिचित प्रतीक—आम का बौराना और मलयगन्धवह का बहना—दोनों वसन्त के आविर्भाव की सूचना देने वाले हैं। ये प्रतीक एक ओर, और दूसरी ओर चित्त की उत्कण्ठा की साखी, इन दोनो को आमने-सामने कवि ने खड़े करके ही यह बात सूचित की है कि वसन्त का आविर्भाव किसी बाहरी परिस्थिति से सम्बन्ध नहीं रखता, वसन्त एक मनोदशा है, वह मनोदशा ही वसन्त की सूचना है, क्योंकि वसन्त जिस पुनर्नवीकरण का

स्वयं प्रतीक है, वह वसन्त के बाहरी परिवेश से अधिक महत्त्वपूर्ण है और उस पुनर्नवीकरण की भूमिका के लिए यह आवश्यक है कि चित्त रागाकुल हो। इस रागाकुल चित्त को वसन्त की बाहरी स्थिति के सम्मुख करते समय वसन्त की प्रतीकात्मक उपस्थिति अधिक सार्थक हो जाती है। यहाँ सादृश्य-विधान का उपयोग अनावश्यक था, शायद सादृश्य-विधान कही गई बात के बल को कम कर देता। यहाँ दो विषम स्थितियों को सामने रखकर ही ठीक तरह से बात पहुँचायी जा सकती थी। इस उदाहरण को देने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रतीक की सीमा के साथ-साथ सादृश्य की भी सीमा ठीक तरह से समझी जाय और प्रतीक को हर स्थिति में अनुपयोगी न माना जाय। जैसे किसी भी छाया-चित्र को अभिव्यजक बनाने के लिए आवश्यक है कि उसे छाया और आलोक—दोनों के समतुलन मे रखा जाय, उसी प्रकार जब कोई एकदम नई बात कहनी हो, तो रूढ़ प्रतीक की पृष्ठभूमि छाया की गहराई का आभास देने के लिए बहुत उपयुक्त होती है।

सच्चा काव्यार्थ बाण की तरह सीधा होता है, उसमें कृत्रिम-संरचना की जटिलता नहीं होती, काव्य के काल-विजयी, निरपेक्ष और अखण्ड रूप को वर्त्तमान और प्रत्यग्र बनाने में यह बाण जैसी ऋजुता मुख्य साधन है। दूसरे शब्दो में, इस सादगी के द्वारा ही अतीत और अनागत को जोड़कर उनको वर्तमान में समाहित किया जा सकता है। इसमें तीनों कालों की एक-जुट स्थिति में क्रमिक काल-बोध नष्ट हो जाता है। साहित्य या कला का यह धर्म है कि वह अनन्त सावधि कालों, अनन्त सावधि देशों और अनन्त सावधि वस्तुओं के साथ उस रूप में लीला-भाव से संचरणशील हो, जैसे कि वे सभी उसमें घटित हो रहे हों। यह लीला केवल खिलवाड़ के लिए नहीं होती, यह लीला होती है देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके एक शाश्वत देश-काल की चेतना भीतर जगाने के लिए; इसलिए भी कला या साहित्य के माध्यम में एक सर्जनात्मक-प्रक्रिया होनी चाहिए, अपने में अद्वितीय और व्यक्ति-रचित होने पर भी साधारणीकरण की ओर इसकी रुझान होनी चाहिए" यह रुझान जिस माध्यम के द्वारा सम्भव है, वह माध्यम जब तक सहज और सीधा नहीं होता, तब तक रुझान ठीक नहीं हो सकती, उसी तरह जैसे कि जिस तीर की नोक सीधी न की गयी हो, वह प्रभावकारी आघात नहीं पहुँचा सकता।

वस्तुतः आदिम मानव के मन में सादृश्य-विधान की आवश्यकता दो कारणों से हुई—एक तो नई-नई वस्तुओं से परिचित होने के लिए, दूसरे कल्पित या असम्भावित भयों से बचने के उद्देश्य से सदृश और कम भयावह सन्दर्भों की तलाश के लिए। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में शब्दों के साथ सादृश्य-मूलक खेल जीवन की आवश्यकता के रूप में हुआ।[११] पहेलियों या बुझौवलों से सादृश्य-विधान के सर्जनात्मक उपयोग का प्रारम्भ होता है और पहेलियाँ भी आदमी के समग्र परि-

वेश के आलोक में ही समझी जा सकती हैं। इन पहेलियों को इसीलिये प्रत्येक सस्कृति में उसके मिथकों से प्रेरणा मिलती है। उदाहरण के लिए : स्कैण्डेनेविया मे एक मिथक है—जो इन्द्रधनुष को देवताओं द्वारा बनाये गये ऐसे पुल के रूप मे देखता है, जो आकाश को पृथ्वी से जोड़ता है। अब इस पर आधारित एक पहेली नार्वे की लोक-अनुश्रुति में है—न यह सड़ा है, न कच्चा है, कोई उस पर चल नहीं सकता, और कोई उसमें से एक टुकड़ा काटकर अलग नहीं कर सकता। इस पहेली का स्कैंडेनेविया के पूर्वोक्त मिथक से सम्बन्ध स्पष्ट है। एक दूसरा उदाहरण भारतीय परिवेश से लिया जाय—भारतीय-मिथक में चान्द्रमास की कल्पना यह है कि चन्द्रमा एक-एक कला पूरा होता है और एक-एक कला घटते हुए एकदम लुप्त हो जाता है और दो पक्षों को लेकर एक मास होता है, इसी को आधार मान कर हिन्दी की एक पहेली है—

बार-बार जो पैदा होता,
बार-बार मर जाय,
तीस दिनों तक जिन्दा रहता,
फिर पैदा हो जाय।

यह स्पष्ट है कि इस पहेली का आधार चान्द्रमास से सम्बन्धित उपयुक्त मिथक ही है। इस प्रकार सादृश्य-विधान का प्रारम्भ मनुष्य की सहज कल्पनाभिव्यक्ति मे देखा जा सकता है, जो एक ओर मिथक की रचना करके एक सांस्कृतिक रूप से सिद्ध आधार-पीठिका को जन्म देता है तो दूसरी ओर पहेली को। दोनों के मूल मे मनुष्य की सर्जनात्मक कल्पना का वही व्यापार है, जो सादृश्य-विधान के मूल मे हे, वह व्यापार है एक साथ दो समानान्तर स्थितियों को देखना, यही सादृश्य का वास्तविक प्रयोजन है। *कुमार स्वामी*[११] ने इसीलिए बहुत जोर देकर यह कहा है कि यदि हम प्राच्य-कला को आभास या माया मानें तो यह बहुत बड़ी भूल होगी, साथ ही यह भी मानना कम भूल न होगी कि एशियाई या प्राच्य-कला एक प्रत्यया-त्मक जगत् को ही प्रस्तुत करता है—(प्रत्ययात्मक, लोक-प्रचलित धार्मिक या भावात्मक अर्थ मे—अर्थात् दूसरे शब्दों में मन की कल्पना के अनुसार निर्मित)। वस्तुतः प्राच्यकला गणितात्मक अर्थ में प्रत्ययात्मक है, वह भी वाहरी सतह पर नहीं, बल्कि अपनी भीतरी-प्रक्रिया में; सादृश्य का अर्थ एक साथ दिखने का भाव है, इसका अर्थ यह है कि भारतीय सौन्दर्य-बोध में सादृश्य न तो प्रकृतिवादी अर्थ देता है, न निदर्शनात्मक, न आभासात्मक और न दो भिन्न वस्तुओं के बीच समान-सूत्रों की खोज पर बल देता है। इस मान्यता का सबसे बड़ा सबूत यह है कि भार-तीय कला में आवश्यक उपादानों में प्रमाण का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। प्रमाण कला के छः अंगों में विभक्त है, सादृश्य इन छः अंगों में से एक प्रमुख अंग है। भारतीय-चिन्तन में इन्द्रिय-गोचर और बौद्धिक रूपों में से किसी एक को प्रधा-

नता न देकर यह माना गया है कि दोनों जब परस्पर अन्वित होते हैं, तभी कोई रूप उद्भूत हो सकता है (**कौषीतकि उपनिषद्**, ३।८)। इस प्रकार सादृश्य ऐन्द्रिय और बौद्धिक दोनों को एक साथ प्रत्यक्ष करने वाला एक प्रमाण-रूप ज्ञान है। सादृश्य-विधान के सम्बन्ध में प्राच्य दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह मानव-जीवन को मानवेतर चेतन या जड़ जीवन से भिन्न नहीं दिखाती। इसलिए ही वह विश्व-सौन्दर्य को व्यष्टि-सौन्दर्य से पृथक् नहीं देखती, इन दोनों को एक दूसरे में ओत-प्रोत रूप में ही देखती है और सादृश्य-विधान के द्वारा इसी तादात्म्य की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है। ठीक इसके विपरीत पश्चिमी चिन्तन मे मानव-शरीर या मानव-जीवन समूची सृष्टि में विशेष महत्त्व रखते हैं और वे दूसरे प्रकार के जीवन या रूपों से एकदम अलग और विशिष्ट रहते हुए ही अपनी सार्थकता स्थापित करते हैं। इसीलिए वहाँ प्रकृति पृष्ठभूमि का काम करती है, वह मानव-जीवन के साथ ओत-प्रोत नहीं हो सकती। यही कारण है कि पश्चिमी विचारक और कलाकार आध्यात्मिक अनुभव के लिए जिस अप्रस्तुत-विधान (एलेगरी) का प्रयोग करते हैं, वह प्राचीन भारतीय विचारक या कलाकार के लिए अनावश्यक है, क्योंकि उसकी दृष्टि में इस प्रकार के अयथार्थ परदे की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ जिसे अलंकार-शास्त्र में अप्रस्तुत कहा जाता है, वह भी उतना ही यथार्थ है, जितना कि प्रस्तुत, और उसे ग्रहण करने के लिए ज़रूरी नही कि हम प्रस्तुत को विस्थापित कर दें। इस सांस्कृतिक दृष्टि-भेद को रीति-विज्ञान के सन्दर्भ में सामने रखना इसलिए आवश्यक है कि यदि हम ठीक तरह से सादृश्य-विधान के सांस्कृतिक-प्रयोजन को नहीं ग्रहण करते तो भारतीय काव्य में सहज भाव से बार-बार कुछ रूढ़ उपमानों के प्रयोग को सार्थक नहीं देख सकते। निराला-काव्य में बार-बार रचनाकार के साथ वसन्त का सादृश्य दुहराया गया है और वसन्त के साथ-साथ उन्होंने कमल के विविध पक्षों को भी किसी-न-किसी सौन्दर्य-सृष्टि के साथ जोड़ा है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है :

अनगिनत आ गये शरण में जन जननि
सुरभि सुमनावली खुली मधुऋतु अवनि,
—शरण में जन जननि

सखि वसन्त आया,
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।
—वसन्त आया।

किरण दृक्पात, आरक्त किसलय सकल,

शत्रु-द्रुम कमल-कलि, पवन-जल, स्पर्श-चल,
भाव में शत सतत वह चले पथ प्राण
—जागा दिशा-ज्ञान

ईर्ष्या कुछ नही मुझे, यद्यपि
मैं ही वसन्त का अग्र-दूत **(हिन्दी के सुमनों के प्रति)**

राम की शक्ति-पूजा में राम के विशेषणों के रूप में और राम के अंगोपागो के रूप में 'कमल' का उपयोग यदि वार-वार हुआ है :

'नमित मुख सान्ध्य-कमल'
'जित-सरोज-मुख-श्याम-देश'
'कमल-लोचन'
'इन्दीवरनिन्दितलोचन'
'पलक-कमल ज्योतिर्दल ध्यान-लग्न'
'राजीवनयन'

तो इसलिए कि इस पूरी कविता में 'कमल' अभिप्राय एक विशेष सार्थकता रखता है। एक सौ आठ इन्दीवरों से देवी का पूजन होना है, और एक इन्दीवर के छिपा लिये जाने पर 'आँख' इन्दीवर के रूप में प्रस्तुत की जाने वाली है, इसलिए 'कमल' की पुनरावृत्ति इस केन्द्रीभूत अभिप्राय को दीपित करने के लिए सार्थक है। दूसरे यह भी है कि यह एक जागरूक साधना को अभिव्यक्ति देने के लिए सबसे अधिक स्वीकृत माध्यम है, इसीलिए यह पुनरावृत्ति पश्चिमी दृष्टि में कुछ उबाऊ भले ही लगे, पर पूरी कविता के सन्दर्भ में एकमात्र सशक्त साधन है।

सादृश्य-विधान के सम्बन्ध मे एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। सादृश्य का प्रमाण रूप में ज्ञान और सादृश्य की दोनों कोटियों का प्रमाण रूप मे ज्ञान, दोनों सादृश्य-प्रतीति के लिए जरूरी हैं। उदाहरण के लिए, किसी बच्चे ने फोटो खींचते समय फ्लैश-गन की चमक देखी है और इसके बाद वह आकाश में बिजली चमकते देखता है और चिल्ला पड़ता है—'देखो, कोई फोटो खींच रहा है' या किसी बच्चे ने कभी बर्फ का गिरना नहीं देखा है और उसे एकाएक बर्फ गिरती देखने को मिल जाय और वह कह पड़े—'देखो, सफेद तितलियाँ खेल रही है' तो इन दोनों प्रकार के कथनों में सादृश्यका ज्ञान पहले से नहीं है, क्योंकि केवल इतना ज्ञान है कि सामने कोई चीज है; वह वही है, जो पहले फोटो खींचते समय थी या सफेद तितली के रूप में देखी थी, दोनों दो वस्तुएँ हैं और दोनों में एक सादृश्य है—इसका ज्ञान बच्चे को उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में नहीं है। इसलिए जब इस प्रकार वह विस्मय से प्रेरित होकर अपने पूर्वज्ञान का ही नये प्रत्यक्ष से तादात्म्य स्थापित करता है तो उसके सामने तुलना की दो कोटियाँ नहीं हैं, क्योंकि दूसरी

कोटि के बारे में उसे जानकारी ही पहली बार हो रही है। ऐसी दशा में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बच्चे की निरीक्षण-शक्ति बड़ी तीव्र है और इसके साथ ही उसकी कल्पना-शक्ति भी बड़ी उर्वर है, किन्तु उसकी उक्ति में सादृश्य-विधान की बात नहीं उठाई जा सकती।[१४] यह जरूरी नहीं कि जिन दो कोटियों के बीच सादृश्य अभिप्रेत हो, वे दोनों ही अभिहित हों। यह भी जरूरी नहीं है कि जिस रूप में सादृश्य की प्रतीति कराई जाय, वह निश्चयात्मक ही हो, किन्तु सादृश्य-विधान के उपयोग के पूर्व यह जरूरी है कि दो सदृश कोटियों का ज्ञान हो, उनके बीच सादृश्य की प्रतीति का ज्ञान हो और उस प्रतीति को व्यक्त करने के लिए किस प्रकार की अभिव्यक्ति अधिक संगत है, इसका ज्ञान हो। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं :

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिः।
नेभाश्चतारा नवफेनभंगाः।।
नायं शशीः कुण्डलितः फणीन्द्रो।
नेदं कलंकं शयितो मुरारिः।।

'यह आकाश नही है, यह समुद्र है। यह ताराएँ नहीं हैं, यह समुद्री फेन के टुकड़े हैं। यह चन्द्रमा नही है,कुण्डली मारे बैठा हुआ शेषनाग है। यह कलंक नही है, उस शेषनाग पर सोये हुए विष्णु भगवान् हैं'—तो क्या हम रचनाकार के रूप मे या पाठक के रूप में पहले से नही जानते कि जिसे समुद्र कहा जा रहा है,वह आकाश है ? इसी प्रकार जिसे फेन का टुकड़ा कहा जा रहा है, वह ताराएँ है ? जिसे शेषनाग कहा जा रहा है, वह चन्द्रमा है और जिसे विष्णु भगवान् कहा जा रहा है, वह कलंक हैं ? सब जानते है कि जो चीज़ है, वह है, किन्तु दोनों कोटियों में इतनी सदृशता है कि जो सामने उपस्थित है, उसको तिरोहित करके दूसरी कोटि को उभारा जा सकता है और इस प्रकार के उभारने मे जिस कोटि को तिरोहित किया जा रहा है, उसके नये वैशिष्ट्य का ख्यापन किया जा सकता है। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि चाहे निषेध के द्वारा, चाहे व्यतिरेक के द्वारा, चाहे तादात्म्य के द्वारा, चाहे संशय के द्वारा, चाहे भ्रम के द्वारा, चाहे सम्भावना की कल्पना के द्वारा—सादृश्य-विधान प्रस्तुत करते समय दो कोटियाँ आमने-सामने खड़ी साक्षात् न भी दिखाई पड़ें, तो भी वे दिमाग़ में रहती हैं और उनके बीच सादृश्य की प्रतीति और उस प्रतीति को किस प्रकार अभिव्यक्त करें, यह भंगिमा भी स्पष्ट रूप से दिमाग़ में रहती है।

वस्तुतः सादृश्य-विधान के द्वारा किसी भी वस्तु के अद्वितीय यथार्थ का अद्वितीय रूप में प्रस्तुतीकरण ही मुख्य लक्ष्य होता है। सादृश्य-योजना का अपने-आप में केवल इतना महत्त्व है कि वह ऊपरी सतह पर परस्पर-सम्बद्ध साधर्म्य के गुणों का सम्मुखीकरण कर देती है, किन्तु इसका मौलिभूत प्रयोजन वह समग्र-

वस्तु है, जो इस सम्बन्ध की प्रतीति के द्वारा एक सामंजस्य-रूप में सामने आती है, अर्थात् दूसरे शब्दों में जिस वस्तु का वर्णन किया जा रहा है, उसे वर्णन करने वाला स्वयं किस रूप में उस वस्तु में है, इसको भी समेटने के लिये ही किसी दूसरी सदृश-वस्तु के साथ उसे जोड़ा जाता है और इस जोड़ने के ही माध्यम से वस्तुओं का न केवल परस्पर सम्बन्ध द्योतित होता है, बल्कि सम्बन्ध स्थापित करनेवाला रचनाकार और उसका मानस तादात्म्य भी लक्षित होता है। उदाहरण के लिए मृत्यु के सम्बन्ध में प्राचीन मिस्र की एक कविता ली जाय :

मेरी आँखों में आज मृत्यु झाँक रही है,
जैसे गहरी बीमारी से उठते हुए कोई बीमार आदमी हो,
मेरी आँखों में आज मृत्यु झाँक रही है,
दोपहर की तेज हवा में
उड़ती हुई बालू के नीचे
बैठे हर एक आदमी की तरह,
अगुरु-गंध की तरह
मेरी आँखों में आज मृत्यु झाँक रही है,
उस बार-बार रौंदी सड़क की तरह
जिस पर दूर लड़ाइयों में
जूझ कर लोग लौट रहे हों,
मेरी आँखों में आज मृत्यु झाँक रही है,
जैसे एक लम्बे साल तक कैद रहने के बाद
घर लौटने की इच्छा उमड़ आई हो।

मृत्यु के इन सभी चित्रों में मृत्यु कोई भयावह या बहुत आकस्मिक घटना नहीं दीखती, क्योंकि देखने वाला मृत्यु को बड़ी शान्ति से स्वीकार कर रहा है, इसलिए जितनी वस्तुओं के साथ इसका सादृश्य है, वे सभी मृत्यु के अतिपरिचित और अभ्यस्त रूप को ही केवल प्रमाणित नहीं करते, बल्कि मृत्यु को मुक्ति के द्वार के रूप में भी दिखलाते हैं। इसलिए जितनी भी कोटियाँ इसके सादृश्य की ली गई हैं, वे सभी इसके खुलेपन, नवजीवन, अपनेपन और चिर-प्रतीक्षित भाव-रूप को ही सामने उभारती हैं। उनको एक शृंखला में लाने का उद्देश्य मृत्यु के प्रति रचनाकार की दृष्टि को उभारना है, दूसरे शब्दों में मृत्यु के एक अद्वितीय यथार्थ को उभारना है। कोटियों की बहुविधता चमत्कार के लिए नहीं, न मृत्यु को बहुत अधिक अस्पष्ट और रहस्यमय बनाने के लिए, बल्कि आसन्न मृत्यु के अनुभव का एक अधिक सहज रूप में ग्राह्य आकार देने के लिए है।

सादृश्य-विधान चार प्रकार के युग्मों से संयोजित हो सकता है :

१. अमूर्त्त का अमूर्त्त से संयोजन, जैसे मृत्यु को इच्छा से जोड़ा गया है।

२. अमूर्त्त का मूर्त्त के साथ संयोजन, जैसे मृत्यु को अगुरु-गंध या मार्ग के साथ जोड़ा गया है।
३. मूर्त्त का मूर्त्त के साथ संयोजन, जैसे 'मैं धुएँ को साँप की तरह लहराते देख रहा हूँ, में धुँए को साँप के साथ।
४. मूर्त्त का अमूर्त्त के साथ संयोजन जैसे—

पार्श्व गिरि का नम्र चीड़ों में
डगर चढ़ती उमंगों सी
बिछी पैरों में नदी
ज्यों दर्द की रेखा। (अज्ञेय)

इन चारों संयोजनों का प्रयोग अलग-अलग उद्देश्यों से किया जाता है। जहाँ दो अमूर्त्तों का सम्मुखीकरण प्रस्तुत किया जाता है, वहाँ बौद्धिकता का आग्रह सबसे प्रबल रहता है। जहाँ दो मूर्त्तों को एक साथ संयोजित किया जाता है, वहाँ गोचर जगत् के वैविध्य और वैविध्य में परस्पर-आबद्ध भाव का द्योतन अभीष्ट होता है। जहाँ अमूर्त्त को मूर्त्त के द्वारा व्यक्त किया जाता है, वहाँ मूर्त्त वस्तु को ही अतिपरिचित मान कर अमूर्त्त को उसके माध्यम से पकड़ने की कोशिश की जाती है, किन्तु जहाँ मूर्त्त की अभिव्यक्ति अमूर्त्त के माध्यम से होती है, वहाँ अमूर्त्त अनुभव ही अत्यन्त परिचित रूप में प्रमाणित किया जाता है। इस प्रकार इन चारों योजनाओं के पीछे अनुभविता का एक विशेष मनोभाव प्रेरक के रूप में रहता है और यदि केवल यों ही मनोभाव के प्रतिकूल योजना कर दी जाय, तो वह योजना चमत्कार मात्र होगी। वह अभीष्ट अर्थ की प्रतीति कराने में न केवल असमर्थ होगी बल्कि उल्टे बाधक भी हो सकती है। उदाहरण के लिए, *घनानन्द* की एक पंक्ति लीजिये—

मोहन सोहन जोहिबे की लगियै रहे, आँखिन के उर आरति।

अर्थात् मोहन को सामने देखने की आतुरता आँखों में लगी रहती है—इतने से मूर्त्तता या चेतनता का आरोप सार्थक था, किन्तु 'आँखों के उर' की बात करके एक अतिरिक्त मूर्त्त-अमूर्त्त-योजना अर्थ की प्रतीति में बाधक बन जाती है, इसी को प्राचीन काव्य-शास्त्र में 'नेयार्थ-दोष' कहा जाता है, जहाँ अर्थ को दूर से लाने की कोशिश की जाय।

मूर्त्त वस्तुओं में भी एक तारतम्य है—स्पर्श सबसे स्थूल है, उससे सूक्ष्म रस, उससे सूक्ष्म गन्ध, उससे सूक्ष्म रूप, और सबसे सूक्ष्म ध्वनि है। जिस कवि का ऐन्द्रिय बोध जितना अधिक सूक्ष्म होता है, वह उतना ही अधिक उस स्तर के सादृश्य-विधान उपस्थित करने में समर्थ होता है। मानस और अति-मानस स्तर के सादृश्य-विधान बहुत जोखिम वाले होते हैं और इनका उपयोग यदि सावधानी से न किया जाय तो कविता एक तमाशा बनकर रह जाती है। उदाहरण के लिए

रेस्तराँ के हॉल से उठती,
जाज़ की जहरमोहरी धुन
फ़ालसई कैक्टसों की बाजुओं में
लड़खड़ाती एक बहकी प्रेमिका।

इसमें धुन के साथ प्रेमिका का सादृश्य तो संगत है, पर रेस्तराँ के हॉल के साथ फाल्सई कैक्टसों की बाजुओं की संगति केवल चमत्कारोत्पादक चाहे हो, सार्थक बिल्कुल नहीं है।

सादृश्य-विधान की उपर्युक्त स्थापनाओं के आलोक में, रीति-विज्ञानपरक विश्लेषण में इसे बराबर ध्यान मे रखना चाहिए कि सादृश्य-विधान वास्तविकता को छिपाने के लिए नहीं, बल्कि वास्तविकता किसी भी 'इदमित्थं'— यह ऐसा ही है—इस दायरे को कभी भी, अंगीकार नहीं करती, इसलिये उसको पूर्ण-रूप से ग्रहण करने के लिए ही विनियोजित होती है। जब वास्तविकता को इस रूप में ग्रहण करना होता है कि कुछ-न-कुछ इससे और आगे है, और वह तथाकथित शाश्वत रूप से और आगे है, जितना जाना गया है या पाया गया है, उससे और आगे, तब सादृश्य-विधान ही मुख्य अवलम्ब बनता है और जब बनता है, तभी वह काव्यार्थ का सही प्रयोजक माना जाता है।

४

काव्य-भाषा का गठन और साभिप्राय विचलन

सादृश्य-विधान यद्यपि काव्य-भाषा के गठन से ही सम्बन्धित है, पर उसे अलग से पहले विस्तार में ले लिया गया है। वस्तुतः सादृश्य-विधान भी इसीलिए महत्त्व-पूर्ण है कि विशेष के सँकरे दरवाज़े से ही कोई भी सर्जनात्मक भाषा सामान्य की ओर अग्रसर होती है और यदि सीधे-सीधे सामान्य अर्थ थोपा जाय तो भाषा रुँध जाती है। जिस प्रकार पतंग की पूँछ, जो देखने में, उसके ऊपर उड़ने में बाधक प्रतीत होती है, एक बोझ बनकर उसे नीचे खींचना चाहती है, किन्तु वस्तुतः यह पूँछ ही ललित और यथारुचि नियन्त्रित गति के साथ उड़ने में सहायता देती है, उसी प्रकार विशेष की प्रतीति कराने वाला सादृश्य-विधान सामान्य का ऊपरी तौर से खण्डन करता हुआ भी सामान्य को ऊपर उठाते रहने में अधिक सहायक होता है। इस प्रकार सादृश्य-विधान एक परोक्ष उक्ति का विधान है, यह नहीं है कि कोई भी कविता केवल सुन्दर या काव्यात्मक बिम्बों का संकलन हो क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो कविता केवल कुछ चुने हुए नुस्खों से आसानी से बन जाय। जैसे—किसी गुलदस्ते में फूल सजे रहते हैं उस प्रकार यदि बिम्ब सजा दिये जायँ तो कविता नहीं बनती, वह केवल कविता का आभास बनता है। कविता में जो फूल सजाये जाते हैं वे फूल जिस पौधे पर उगते हैं उसके पूरे परिवेश के साथ—चाहे वह परिवेश शब्दों के द्वारा व्यक्त हो, न हो—कविता में आते हैं। इसलिए काव्य-रचना में उपयोजित हर विशेष एक सजीव सामान्य के साथ जुड़ा हुआ विशेष है। किसी भी क्षण उसका कविता में उपयोग सन्दर्भ से अलग रहकर नहीं बल्कि सन्दर्भ के अधिक-तम दीपित और साभिप्राय रूप को उभारकर ही सार्थक माना जाना चाहिए।

इसीलिए कविता की भाषा के गठन में सबसे अधिक बल इस पर दिया जाता है कि इसमें शब्द का अपव्यय नहीं होना चाहिए और कहीं भी कोई चीज़ अप्रयो-जन या अनावश्यक नहीं होनी चाहिए। इसीलिए जिसे हम कविता का अन्वयार्थ (पैराफ़ेज़) कहते हैं वह वस्तुतः अन्वयार्थ न होकर कविता के परस्पर सम्बद्ध

अर्थ का ठीक-ठीक विपर्यास होता है। इस तथा-कथित अन्वयार्थ में वह सब-कुछ छूट जाता है जो कविता में जुड़ा हुआ है और उसके ऊपर वे दूसरी चीज़ें आरोपित हो जाती हैं जो कविता की दृष्टि से व्यर्थ हैं। प्रत्येक कविता अपने में अखण्ड इकाई होती है, इसीलिए प्रत्येक कविता का एक अलग स्वर होता है। यह स्वर केवल ध्वन्यात्मक ही नहीं होता यह काव्यार्थ में भी प्रतिध्वनित होता है, और जब तक कि ध्वन्यात्मक स्वर अर्थ के स्वर के साथ-साथ नहीं बजता, तब तक काव्य-रचना विश्रृंखल और असम्बद्ध बनी रहती है।

केदारनाथ अग्रवाल की दो छोटी कविताओं से ऊपर की बात अधिक स्पष्ट हो जायेगी। पहली कविता है '**गाने के लिए गया**'—

> **पक्षी जो**
> **एक अभी-अभी उड़ा**
> **और एक बोलती लकीर-सा**
> **अभी-अभी**
> **नील व्योम वक्ष में समा गया**
> **गीत वहाँ**
> **गाने के लिए गया**
> **गायेगा**
> **और लौट आयेगा।**
> **पक्षी जो**
> **एक अभी-अभी उड़ा।**

दूसरी कविता है '**आज नदी बिल्कुल उदास थी**'—

> **आज नदी बिलकुल उदास थी**
> **सोयी थी अपने पानी में**
> **उसके दर्पण पर**
> **बादल का वस्त्र पड़ा था।**
> **मैंने उसको नहीं जगाया**
> **दबे पाँव घर वापस आया।**

इन दोनों कविताओं के स्वर में अन्तर, ध्वनि, और वस्तु दोनों ही स्तरों पर हैं। पहली कविता में 'अभी-अभी' की पुनरुक्ति, 'गया' की पुनरुक्ति, 'गाने' की पुनरुक्ति और कविता जहाँ से शुरू हुई थी वहीं फिर लौट आकर एक अधूरे से लगने वाले वाक्य में काव्य की परिणति 'पक्षी जो एक अभी-अभी उड़ा', ये सभी चीज़ें जो वस्तु ध्वनित करती हैं, वह कविता में सादृश्य के रूप में एक पंक्ति 'और एक बोलती लकीर सा' में ला दिया जाता है। गीत का अभाव वर्ण्य वस्तु है और पक्षी उसी वर्ण्य वस्तु को मूर्त्त आकार देने के लिए इस कविता में लाया गया है।

पूरी कविता के स्वर में पक्षी जो अभी-अभी उड़ा, गीत जो अभी-अभी मन के आकाश में उड़ा, ये दो समानान्तर स्थितियाँ हैं, एक मूर्त्त, पाठक को गीत के उडान का आभास देने के लिए, दूसरा अमूर्त्त—'बोलती लकीर सा' पंक्ति को अर्थ देने के लिए, गीत के प्रभाव की वर्त्तमानता और व्यतीतता का लगभग समकालीन-बोध कविता का मूल स्वर है। इसीलिए 'अभी अभी' और 'गया' की पुनरावृत्ति इतनी सार्थक है। साथ ही अन्त में 'गायेगा' और 'लौट आयेगा' के बाद पूरी-की-पूरी दो पक्तियाँ 'पक्षी जो अभी-अभी उड़ा' की पुनरावृत्ति उस मूल स्वर को भविष्य में भी पाने के विश्वास का इशारा देती है।

ठीक इसके विपरीत दूसरी कविता में कोई भी पुनरावृत्ति नहीं है। इसके दो खण्ड हैं -- एक में नदी का चित्र है, दूसरे में नदी के प्रेक्षक का भाव। कोई भी पुनरुक्ति नहीं है। पहले खण्ड मे निष्पन्न भूतकाल है, दूसरे में तटस्थ भूतकाल। पहले खण्ड में उदासी की स्थिति एक निष्पन्न स्थिति है, दूसरे खण्ड में प्रेक्षक उदासी से अभिभूत होकर भी ऊपर से तटस्थ भाव से ही लौटा दिखायी देता है, परन्तु दोनों खण्डों में व्यतीतता का ही भाव है और इसी व्यतीतता के द्वारा नदी की उदासी में तटस्थ प्रेक्षक की उदासी सोयी हुई है और प्रेक्षक की तटस्थता में नदी की उदासी का भारीपन भय की तरह समाया हुआ है—कहीं जरा-सा शब्द होने पर उदासी जग न जाय। दोनों चित्र इस प्रकार एक दूसरे में ओत-प्रोत होते हुए भी अलग, असम्बद्ध दिखाये गये हैं ताकि बादल की छाया से गहरायी उदासी का प्रभाव अत्यन्त विविक्त रूप में ग्रहण किया जा सके। पूरी कविता का स्वर एक भारीपन के भाव को व्यक्त करने वाला स्वर है। किसी भी शब्द या पंक्ति की पुन-रावृत्ति से यह भारीपन हल्का हो सकता था, इसीलिए वस्तु-विन्यास और ध्वनि-विन्यास दोनों में दूसरी कविता पहली से नितान्त भिन्न है।

पहली कविता में अन्य पुरुष छाया हुआ है, दूसरी कविता में उत्तम पुरुष ही अधिक प्रमुख है, पर ध्वनि की दृष्टि से पहली कविता में उत्तम पुरुष के चित्र का सस्कार प्रमुख है और दूसरी कविता में उसकी अन्यमनस्कता, अर्थात् परिस्थिति की विवशता अधिक प्रमुख है। उसके आगे अनुभविता एकदम विमूढ़ हो गयी है। इस प्रकार संरचना की दृष्टि से दोनों कविताओं के सतही और भीतरी स्तर एक दूसरे के विपर्यास की स्थिति में हैं।

कविता की संरचना एक सजीव संरचना होती है, जिसमें एक अंग की प्रति-क्रिया दूसरे अंग में अभिव्यक्त हुए बिना नही रहती। किन्तु साथ-साथ कविता के समग्र भाव की दृष्टि से ही उसके अंग उन्मीलित या गोपायित होते हैं। कविता के केन्द्रवर्ती भाव से अलग-अलग उसके उपादान तत्त्वों का महत्त्व नहीं होता। केन्द्र-वर्त्ती भाव ही कविता का जीवित सन्दर्भ होता है और वही सामान्य कथन को भी नाटकीय बना देता है, काव्य-बिम्बों के सीमित साहचर्य के दायरे को बढ़ाकर

उसे विशिष्ट सन्देश का वाहक बना देता है। सन्दर्भ का यह दबाव काव्य के प्रत्येक अंग को प्रभावित करता है और यह प्रभाव ही एक प्रकार की विडम्बनात्मक स्थिति या वक्रोक्ति को जन्म देता है। *भवानीप्रसाद मिश्र* की *'सन्नाटा'* कवितामें सन्नाटे की यह उक्ति कि .

वैसे तो भय की कोई बात नहीं है
सच पूछो तो भय कहाँ नहीं है
बस केवल इतनी सी है बात
कुछ लोग यहाँ थे अब वे यहाँ नहीं है।

यदि सन्नाटे के सदर्भ से अलग रख दी जाय तो बड़ी घिसी-पिटी बात लगेगी पर एक घिसी-पिटी बात को भी सन्नाटे का सन्दर्भ एक नाटकीय अर्थवत्ता प्रदान करता है—पहले तो पास बुलाता है कि भय की कोई बात नहीं है, फिर ठीक उलटी बात करता है कि भय कहाँ नहीं है, अर्थात् भय बहुत ही सामान्य है, व्यापक होने के नाते साधारण है। फिर एकदम एक नया मोड़ लेकर सन्नाटा कहता है कि बड़ी छोटी-सी बात है—कुछ लोग यहाँ थे, अब वे यहाँ नही हैं —अभाव में सूनेपन मे उपस्थिति का बोध करा देने से भय का साकार रूप खड़ा हो जाता है। ऊपर से घिसी-पिटी दिखने वाली पंक्तियाँ इस रूप को खड़ा करने मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगती है। वक्रता या परोक्ष अर्थगर्भता या वामता काव्य-सौंदर्य का एक विशेष उपलक्षण इसी माथने में है कि वह सीधी और सपाट डगर को भी चढ़ाव-उतार वाली भावनाओं के संदर्भ से जोड़कर उसके दृश्य गन्तव्य से अलग कविता के गन्तव्यकी ओर उन्मुख करते हुए वक्र या संकिल बना देती है। एक दूसरे उदाहरण से यह बात और स्पष्ट हो जायेगी—

तत्तो च्चिअ होन्ति कहा विअसन्ति तहिं तहिं समप्पन्ति।
किं मण्णे माउच्छा एक्कजुआणो इमो गामो ।।

इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि सारी कहानियाँ उसी से शुरू होती हैं और उसी मे खत्म हो जाती हैं; बताओ सखी क्या इस गाँव में और कोई दूसरा युवक ही नहीं है? इस गाथा की वक्रता इसके प्रश्न में ही है। पहली पंक्ति में एक अंश है, दूसरी पंक्ति में ऊपर से खीझ—केवल एक ही व्यक्ति ऐसा क्यों हो जो सबके आकर्षण का केन्द्र हो और दोनों पंक्तियों को साथ जोड़ने से सौभाग्य का गर्व—जो कविता का मूल केन्द्र बिन्दु है—ध्वनित होता है, कि ऐसे अप्रतिम आकर्षण का केन्द्र जिसकी तरफ सब तरुणियाँ खिंच रहीं हों, मेरे आकर्षण की परिधि में आ गया है। इस प्रकार मुख्य ध्यान प्रेमिका के सौभाग्य के गर्व पर है किन्तु इसको व्यक्त करने के लिए राह अपनायी गई है। प्रेमी की विशिष्टिता का बखान करके और प्रतिषेधात्मक प्रश्न के द्वारा और अधिक सबल पुष्टि के साथ उस प्रेमी के अप्रतिम रूप की घोषणा के द्वारा। गाथा के मूल केन्द्र-बिन्दु के परि-

प्रेक्ष्य में ही रस-कथाओं की चर्चा सार्थक है, क्योंकि उसको अलग करके यदि ऐसी बात कही जाय तो उससे प्रेमी की अस्थिरता ही द्योतित होगी, पर स्वयं आकर्षण का केन्द्र होते हुए एकनिष्ठ प्रेमभाव से प्रेमिका (गाथा कहने वाली) में आसक्त है, जब यह बात सामने रखी जाय तो प्रेम का उत्कर्ष कुछ अधिक बढ़ जाता है।

वस्तुतः काव्यात्मक वक्तव्य अपनी सत्यता बाहर से नहीं, कविता के भीतर से प्रमाणित करता है। यह बिल्कुल जरूरी नहीं कि कोई भी कथन अपने आप में तर्कसंगत और काव्य-अनुभव से इतर अनुभव के द्वारा प्रमाणित ही हो। साथ ही यह भी जरूरी नहीं कि वह असंगत और अप्रमाणित और इतर अनुभव से बराबर अप्रमाणित ही हो। वस्तुतः उसकी संगति या उसका प्रामाण्य यह दोनों पूरे काव्य और उसके अनुभव को पाकर है। इस अनुभव में कवि और उसके पाठक दोनों बराबर के साझीदार होते हैं, तभी कविता का सही-सही मर्म खुलता है और उसकी सीधी संरचना केवल दृष्टि या अनुभव-विषय न रहकर द्रष्टा और अनुभविता भी बन जाती है—उसी प्रकार जिस प्रकार चलती हुई गाड़ी से शीशे के पार देखी जाती हुई रेल की सीधी पटरियाँ लहरदार बन जाती हैं और लहरदार रूप में उनकी प्रतीति उनकी सपाट वास्तविकता से अधिक जीवन्त रूप में सत्य लगती है। उदाहरण के लिए—अज्ञेय की '**दूज का चाँद**' शीर्षक कविता ली जाय—

> **मेरे छोटे कुटीर का दिया**
> **तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आँगन में**
> **सहमा-सा रख दिया गया**

इस कविता में 'दूज के चाँद को' 'मेरे छोटे घर-कुटीर' और 'तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आँगन' इन दोनों से जोड़कर एक नयी वास्तविकता दी गई है, जो उसे केवल सौर-मण्डल का एक पिंड नहीं रहने देती, बल्कि समष्टि को आलोकित करने के लिए व्यष्टि के संकल्प को एक मूर्त्त आकार के रूप में, उसे स्थापित कर देती है और इस रूप में 'दूज का चाँद' जो सहमा-सा रख दिया गया है, सौर-मण्डल के पिण्ड की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् सत्य बनकर उभर आता है। 'सहमा-सा' कहने से ही उसमें एक चैतन्य का स्पन्दन आ जाता है, ऐसे चैतन्य का स्पन्दन जो 'मैं' और 'तुम' को जोड़ने का संकल्प लेकर भी एक बार अपने कार्य की गुरुता से सिहर उठता है।

कभी-कभी कविता की संरचना ऐसे जोड़ों को लेकर होती है जो एक दूसरे को काटकर स्वयं चुक जाते हैं और किसी तीसरी वस्तु को ध्वनित करके अपनी सार्थकता प्राप्त करते हैं। उदाहरण के लिए जयदेव के **गीत गोविन्द** का पहला श्लोक लिया जाय .

> **यदि हरिस्मरणे सरसं मनो**
> **यदि च केलिकलासु कुतूहलं**

> **मृदुलकोमलकान्तपदावलीं**
> **शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ।**

ऊपर से ऐसा लगता है कि कवि दो विकल्प दे रहा है : यदि तुम्हारा मन हरिस्मरण के लिए तरस हो रहा हो, या यदि तुम्हारे मन में केलि-कलाओं के लिए कुतूहल हो, तो जयदेव की वाणी सुनो, किन्तु गहराई में जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जयदेव की वाणी न तो कोरे भक्तों के लिए है और न शृंगार-लीला मे रस लेने वाले साधारण जनों के लिए— दोनों ही इसके अपात्र हैं। दोनों विकल्प एक दूसरे को काटते हैं और एक तीसरे विकल्प की प्रतीति कराते हैं। वह तीसरा विकल्प यह है कि वही व्यक्ति जयदेव की वाणी को ठीक-ठीक समझ सकता है जो शृंगारी भावना और भक्ति—दोनों से ऊपर उठकर समस्त शृंगार को राधा-कृष्णामय रूप में देख रहा हो या राधाकृष्ण की लीला को प्रत्येक शृंगारी चेष्टा मे प्रतीयमान देख रहा हो। इस प्रकार इस छोटे-से सीधे-सादे श्लोक में दो विकल्प दिये जाते हैं—दोनों एक दूसरे को काटते हैं और दोनों को अतिक्रान्त करके एक तीसरे विकल्प के द्वारा अर्थ की प्रतीति सम्भव हो पाती है। *आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी* ने इस कौशल को अन्यथाकरण कहा है—अन्यथाकरण, अर्थात् जो जैसा है, उसे वैसा ही न रहने देना और उन्होंने एक बहुत ही उपयुक्त उदाहरण '**शाकुन्तल**' से दिया है :—

> **यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा**
> **तथापि अस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ॥**

अर्थात् चित्र में जो कुछ जैसा है, वैसा नहीं बन पाता, उसे अन्यथा कर दिया जाता है फिर भी उसका (शकुन्तला का) लावण्य रेखाओं से बह निखर ही गया है, उसमें लगातार प्रभावित करने की क्षमता जुड़ ही गई है। अन्यथा करने का अभिप्राय ही कुछ ऐसी अतिरिक्त प्रतीति कराना होता है, जो प्रतीति केवल उन्ही रेखाओं से सम्भव हो और साथ ही जो प्रतीति ऐसी हो कि भाव परम्परा की सृष्टि करने में समर्थ हो। अन्वय का अर्थ *द्विवेदीजी* ने ठीक ही 'अनुरणन' या भाव-परम्परा के उत्पन्न करने की क्षमता लगाया है। वस्तुतः काव्य का अन्वय एक स्थिर या जड़ सम्बन्ध-मात्र नहीं है, वह एक प्रकार की अनुगूँज है, जो उस काव्य के निरन्तर पाठ या श्रवण से एक और नयी अर्थ-भूमि प्राप्त कराती रहती है। इसके लिए अन्यथाकरण जरूरी होता है। यही कवि-निर्मित लालित्य है, जो विधाता की सृष्टि से या नैसर्गिक शोभा से एक अतिरिक्त गुण है। इस प्रकार अन्यथाकरण सत्ता या वास्तविकता को द्रष्टा से जोड़कर उसे एक ऐसी सत्ता मे रूपान्तरित करने का कौशल है, जिसमें केवल एक दृष्टा ही नहीं बल्कि समान रूप से सामने मौजूद और आने वाले सभी सहृदय दृष्टा या पाठक अनुस्यूत हो सकते हैं। यदि केवल कोरी सपाट सत्ता हो तो उसका मूल्य एक विवरण से अधिक नही

होगा, फिर वह विवरण एक से अधिक बार पढ़ा भी नहीं जा सकेगा, पढ़ा भी जाय तो कुछ भी भाव झंकृत करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।

ऊपर जिस रेखा की बात की गयी है वह सब जगह एक सी उभरी नही रहती, बीच-बीच में अन्तराल भी छोड़ती है ताकि अन्तराल में अपने आप एक अस्पष्टता, अर्धदृश्यता या द्वयर्थता की गुंजाइश बनी रहे। उदाहरणार्थ *भवभूति* के **उत्तररामचरित** की दो पंक्तियाँ ली जायँ—

न किल भवतां स्थानं देव्या गृहेऽभिमतं तत:।
तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता॥ (तृतीयांक)

इन पंक्तियों में राम एक ओर वासन्ती से कह रहे हैं और दूसरी ओर सामने अनुपस्थित अयोध्या के नागरिकों को सम्बोधित कर रहे है: आप लोगों को देवी का घर में रहना अभिमत नहीं था, इसलिए मैने शून्य विजन में तृणा की तरह उनका परित्याग किया और कुछ भी दु:ख प्रकट रूप में नहीं किया। इन पक्तियों में 'अनुशोचिता' और 'त्यक्ता' दोनों के कर्त्ता छोड़ दिये गये हैं इसलिए स्वाभाविक रूप से दो अर्थ उभरते हैं—मैंने अफसोस नहीं किया और आप नागरिको ने भी अफसोस नहीं किया; मैंने सीता को तजा, आपने भी सीता को तजा, इन दो अर्थो की गुंजाइश छोड़ना आवश्यक था, क्योंकि सन्दर्भ उपालम्भ का है कि आपको अपने निष्ठुर व्यवहार पर ग्लानि नही हुई, और मै भीतर-भीतर घुलता रहा हूँ। सीता को तजते समय मैंने अपने को भी तज दिया है, इस पर आपने कभी ध्यान नहीं दिया। यदि यह अन्तराल न छोड़ा जाता तो इस दूसरे अर्थ की सम्भावना नहीं उभरती और चूंकि दोनों अर्थों को अत्यन्त संक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत करने से ही उपालम्भ की तीव्रता व्यक्त हो सकती थी, इसलिए दोनो अर्थ कोटियों को अलग-थलग भी नहीं रखा गया। इससे यह समझना कि कविता की भाषा गद्य की भाषा की अपेक्षा कम परिच्छिन्न होती है, भूल होगी। उल्टे कविता की भाषा अधिक संक्षिप्त और अधिक कसी हुई और अधिक सजीव रूप में सुगठित होती है। उसमें कवि एक साथ अनेक स्तरों पर अनेक अर्थ प्रतीत कराने के उद्देश्य से अनेक साधन प्रयोग में लाता है। अर्थ यदि एक से अधिक उद्भासित होते हैं, तो इसलिए नहीं कि भाषा परिच्छन्न नहीं है, बल्कि भाषा जान-बूझकर एक से अधिक अर्थ देने के लिए मोड़ी गयी है और लचीली बनायी गयी है। इसीलिए काव्य-भाषा के गठन में गद्य की जड़बद्धता व्याघात पहुँचाती है। जिसे गद्य की दृष्टि से मानक रूप से विचलन (डेविएशन) कहा जायेगा, वह काव्य-भाषा के गठन की दृष्टि से भाषा की सर्जन-क्षमता का प्रमाण बन जाता है, बशर्ते कि उसका उपयोग संयम और कौशल से किया जाय; सयम इस मायने में कि विचलन को तमाशा न बना दिया जाय और कौशल इस मायने कि कम-से-कम विचलन के द्वारा अधिक-से-अधिक अर्थगर्भता लाने का यत्न किया जाय।

चूंकि सामान्य भाषा का उद्देश्य सीमित है, इसीलिए वह संकेत और सन्दर्भ के बीच के स्थिर और सुनिश्चित सम्बन्धों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं महसूस करती, किन्तु काव्य-भाषा इन सम्बन्धों को तोड़ने के लिए इस कारण लाचार है कि काव्य-भाषा पूर्व निश्चित सम्बन्धों को एक नयी वास्तविकता से अभिभूत करके विचलित करती है। दूसरे शब्दों में, नये सम्भावित अर्थ के लिए एक पेशबन्दी तैयार करती है। पेशबन्दी तैयार करने का अर्थ भाषा के व्यवस्थापक नियमों में तोड़-मरोड़ लाना नहीं है, बल्कि उसका अर्थ भाषिक व्यापार के सामान्य स्वीकृत उद्देश्यों को नया मोड़ देना है। सादृश्य-विधान या शब्दों का नये क्रम में स्थापन या वाक्य के सामान्य क्रम में व्यत्यय पेशबन्दी के ही विभिन्न प्रकार हैं। वस्तुतः जैसा कि *मुकारोव्स्की* ने कहा है—"कोई भी काव्यात्मक रचना या साहित्य रचना न तो केवल यन्त्रीकृत वाक्य-खण्डों से बनती है, न केवल पेशबन्दियों से, बल्कि दोनों के जोड़-तोड़ से ही उसका निर्माण होता है। उसमें प्रत्येक उपादान-तत्त्व समग्र के साथ सम्मिलित होकर मूल्यवान् होता है[1]।" एक तरह से कुछ हिस्सा ऐसा लगता है, जो बन रहा है और कुछ हिस्सा ऐसा लगता है जो बन चुका हो। एक तीसरा हिस्सा नये निर्माण का आधार देता है और यन्त्रबद्धता और पेशबन्दी एक दूसरे का व्यावर्त्तक बनकर नहीं बल्कि एक दूसरे से निरन्तर लिपटे रहकर ही एक समग्र नये अर्थ की भावनाओं के लिए समर्थ होते हैं। यदि इन दोनों में कोई स्थिर सन्तुलन स्थापित हो जाय तो भाषा की गतिशीलता समाप्त हो जाय। *मुकारोवस्की* ने आगे चलकर अतिरेक की प्रवृत्तियों के खतरों की ओर इशारा करते हुए कहा है कि यदि प्रतीकवादी कविताएँ पेशबन्दी के अपने अतिरेक पर पहुँचने के कारण प्रेषणीयता खो बैठती है, तो नव-क्लासिक कविता में बहुत सफल यन्त्रबद्धता के ऊपर देने के कारण अर्थ में नवीनता नहीं आने पाती। वस्तुतः इन दोनों के बीच का विचलनशील सन्तुलन रीति-विज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस विचलन का सांख्यकीय आधार पर परिमापन बहुत उपादेय हो सकता है।

विचलन की अभिव्यक्ति कई स्तरों पर देखी जा सकती है :

१. क्रम-भंग, इसका उद्देश्य क्रिया या कर्म में जिस किसी को पहले लाया जाता है, उसे ध्यान का केन्द्र बनाना होता है। जैसे : 'जहाँ तपस्या करते हम व्रतचारी' में कर्त्ता से अधिक कर्म पर और क्रिया पर ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक होने के कारण कर्त्ता बाद में रखा गया है।

२. वाक्य में प्रत्याशित समनुहार या ऐग्रीमेंट (वचन, पुरुषलिंग काल आदि की अन्विति को तोड़ना), इसका उद्देश्य व्याकरणिक राशि (केटेगरी) को एक नयी अर्थवत्ता प्रदान करना होता है। उदाहरणार्थ : **'मैं' नहीं है, 'हम' है।**

सामान्य भाषा में विचलन इसलिए अनपेक्षित है कि यहाँ सन्देश-प्रेषण मे विचलन के कारण भ्रम होने की सम्भावना है। 'मैं' मैं नहीं है 'हम' है—इसमें 'मैं' के साथ 'हूँ' की प्रत्याशा थी, किन्तु यहाँ 'मैं' उत्तम पुरुष एक वचन का सर्वनाम का रूप न होकर व्यष्टिगत अस्मिता का बोधक बनकर जब आता है तो उसे अन्य पुरुष मे स्थापित करने से ही अन्य पुरुष की क्रिया के साथ स्थापित करना आवश्यक हो जाता है।

३. एक जाति के पद को दूसरी जाति के पद के स्थान पर प्रयोग करके सतह पर व्याकरण-भंग इस उद्देश्य से लाना कि जो क्रिया है वह कर्म रूप में परिवर्तित होकर या जो कर्म है, वह क्रिया बनकर अर्थ के आकस्मिक मोड़ को अधिक प्रख-रता से व्यक्त करे। जैसे : "उसका न करता हूँ भी करता है।" इसमें 'न करता हूँ' यह क्रिया पदबन्ध 'करता है' क्रिया पदबन्ध के कर्त्ता रूप में प्रयुक्त होता है, यहाँ इससे यह अर्थ घोषित करना अभीष्ट है कि जिस समय वह कहता है कि मैं कुछ नही करता हूँ उस समय मौन रूप से वह करता रहता है, क्रियाशील रहता है। दूसरे शब्दों में वह चुपचाप काम करता है, बोलता नहीं।

४. वाक्य को सतही तौर पर अधूरा छोड़ देना, जैसे—**उत्तररामचरित** के इस श्लोक में—

> **त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं**
> **त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमंगे।**
> **इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां**
> **तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥**

यहाँ पर 'तामेव' के अनन्तर एक प्रत्याशित क्रिया थी, जिसका अर्थ सम्भवतः परि-त्याग करना या निर्ममतापूर्वक व्यवहार करना था, किन्तु उस क्रिया को न कहकर केवल इतना ही कहने से —'जाने दो उसके बाद क्या कहा जाय' (किमिहोत्तरेण) उस क्रिया की दुःसह रूप से अवाच्यता को द्योतित कराया जाना अभीष्ट है। इस प्रकार वाक्य अधूरा रहकर और अधिक ईप्सित वाक्यार्थ का व्यंजक हो जाता है।

जो लोग यह समझते हैं कि यह विचलन या भंग चौंकाने के अभिप्राय से भी प्रयुक्त होता है, वस्तुतः साहित्य के मूल उद्देश्य को पकड़ नहीं पाते। चौंकाना अपने आप में मूल उद्देश्य नहीं हो सकता। चौंककर ध्यान दूसरी जगह से खींचकर एक दूसरे बिन्दु पर टिकाना ही विचलन का मूलभूत उद्देश्य है। इससे भिन्न उद्देश्य से विचलन छन्द की पूर्ति के लिए क्रम को इधर-उधर करना रचनाकार की असमर्थता का द्योतक होता है। इसका एक अत्यन्त उपहसनीय उदाहरण यह है :

> **प्रभाते भाषते कुक्कु**
> **मुखं प्रक्षालयस्व टः ॥**

यहाँ 'टः' कुक्कु के बाद आना चाहिए था, पर छन्दोभंग से बचने के लिए अत

मे जोड़ दिया गया है।

चाहे कोई भी भाषा हो, यदि प्रत्याशित क्रम नहीं मिलता तो वह किसी अभिप्राय-वश, न कि इसलिए कि कवि को क्रम तोड़ने की छूट मिली हुई है। यदि किसी साहित्यिक रचना की भाषा का सांख्यिकीय विश्लेषण किया जाय तो पता चलेगा कि बोलचाल की भाषा की अपेक्षा साहित्यिक भाषा में विचलन के उदाहरण एक सीमित भाषा में ही अधिक मिलेंगे और यदि अतिरेक मिलेगा तो उसके पीछे विसंगति या विरूपता या उपहसनीयता या विडम्बना का भाव द्योतित करना विशेष लक्ष्य होगा। जो लोग यह मानते हैं कि कविता गद्य से इस मायने मे भिन्न है कि गद्य में अन्वय होता है, कविता में अन्वय नहीं होता, वे यह नही जानते कि कविता का अन्वय ही असली अर्थ का अन्वय है। वह केवल पदो का अन्वय नहीं है और उसमें पौर्वापर्य बल के द्योतन के अभिप्राय से किया जाता हे। समनुहार को जहाँ तोडा जाता है, वहाँ भी एक विवक्षित और गम्यमान क्रम रहता है। जहाँ प्रत्याशित अन्विति नहीं मिलती, वहाँ भी एक सुनिश्चित वैषम्य विवक्षित रहता है और जहाँ समापिका क्रिया पूरक विशेषण से या क्रियासाधित कृदन्त में समाविष्ट हो जाती है, वहाँ क्रिया की व्यापारवत्ता से अधिक फलवत्ता द्योतित करना उद्दिष्ट रहता है। इस प्रकार विचलनएक सचेत रचना की सोद्देश्यता का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है और इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से न किया जाय तो कविता की भाषा तमाशा बन सकती है, वह लटके या विज्ञापन की भाषा के स्तर पर उतर सकती है, उसमें शब्द के अर्थ से रेचित हो जाने का खतरा सन्निहित रहता है। इसके विपरीत जहाँ ज़रूरी है, वहीं विचलन का विनियोग करके और अविचलित पंक्तियों को भी यथासम्भव रखके रचना की सोद्देश्यता उभारी जा सकती है। उदाहरण के लिये *भवानीप्रसाद मिश्र* की **अकेला तो सूरज भी नहीं है** शीर्षक कविता का पहला खण्ड लिया जा सकता है—

> **बहती है एक शाम**
> **अतर्कित किसी प्रेम साहस की तरह**
> **और दिन**
> **गिन रहा है जैसे कड़ियाँ**
> **किसी छत की**
> **पड़ा हुआ पहाड़ की चोटी पर**
> **अंधेरा घिर रहा है**
> **शाम के सांवले चेहरे का**
> **सतरंगी बुर्का**
> **गिर रहा है**

इसमें दो खण्ड हैं, पहले खण्ड में क्रम का विचलन है, दूसरे में नहीं। पहले उपखण्ड

मे भी दो प्रकार के विचलन हैं, पहले विचलन में क्रिया पहले आती है तब कर्त्ता, तब क्रियाविशेषण और तब उस क्रियाविशेषण को बतलाने वाला एक उपमान। दूसरे उपखण्ड में पहले कर्त्ता तब क्रिया, तब कर्म, तब कर्म का सम्बन्ध-वाचक विशेषण, और अन्त में कर्त्ता का कृदन्तीय विशेषण और उसके बाद अन्त मे अधिकरणवाचक पदबन्ध। इस प्रकार एक ही उपखण्ड में दो प्रकार के विचलन है, एक में क्रिया कर्त्ता के पहले आती है, दूसरे में क्रिया कर्त्ता के बाद, किन्तु कर्म के पूर्व तथा कर्त्ता के विशेषण के पूर्व, इससे यह स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाता है कि दिन के गिनने में और शाम के बहने में एक सप्रयोजन अन्तर है। शाम के बहने पर कोई वश नहीं है और दिन सचेत और सक्रिय रूपसे गिन रहा है। शाम का बहना प्रेरित है, दिन का गिनना स्वयंचालित। किन्तु दोनों उपखण्डों में साधारणतः क्रिया और कर्त्ता के बीच में आने वाले अंश अन्त में डाल दिये गये हैं, जैसे वे उतने महत्वपूर्ण न हों जितने क्रिया एवं कर्त्ता। ठीक इसके विपरीत दूसरे उपखण्ड में अपेक्षित क्रम तोड़ने की आवश्यकता नहीं समझी गयी, उसमें दोनों वाक्यों में प्रत्याशित क्रम मे ही कर्त्ता, क्रिया और उसके विशेषण रखे गये हैं, क्योंकि यहाँ ऊपर के खण्ड के शाम और दिन के नाटकीय वैषम्य पर एक पटाक्षेप डालना अभीष्ट है, इसलिए चीजें क्रम में ही घटित होती दिखायी जाती हैं। नाटकीयता समाप्त हो गयी है और एक वास्तविकता उभर रही है। अंधेरा घिर रहा है और उसके ऊपर रंगीनी का पर्दा भी गिर रहा है, अर्थात् शाम अतर्कित रूप में बहते हुए भी गहरी हो जाती है और दिन पहाड़ की किसी चोटी पर पड़ा हुआ किसी छत की झाड़ियाँ गिनते हुए ढल जाता है। प्रकाश का यह जूझना विफल हो जाता है।

वस्तुतः विचलन मुख्यतः सर्जनात्मक कृति के निजी वाक्यविन्यास का ही एक आवश्यक उपकरण है। सर्जनात्मक वाक्य-गठन में व्याकरणिक अपेक्षा के अतिरिक्त वर्ण्य विषयों के सामानाधिकरण्य की अपेक्षा अधिक प्रबल रहती है। कभी-कभी पूरी कविता में केवल क्रिया-साधित नाम का प्रयोग करके वर्ण्य विषय के साथ उसकी संगति स्थापित करते हुए समापिका क्रिया का पूर्णतया परिहार किया जा सकता है। जैसे :

फागुनी शाम अंगूरी उजास
बतास का जंगली गंध में डूबना
ऐंठती पीर में दूर बराह से
जंगलों के सुनसान का कूंथना।
बेघर बेपहचान वो राहियों का
नतशीश न देखना पूछना
साल की पंक्तियों वाली निचाट सी
राह में घूमना घूमना घूमना। (*नामवरसिंह*)

इस पूरी कविता में सारे व्यापार फागुनी शाम और अंगूरी उजास के समानाधिकरण रूप में चित्रित किये गये है, इसलिए उन सब में एक 'फागुनी शाम' की जहाँ एक ओर निरुद्देश्यता का आवर्त्तन है, दूसरी ओर अंगूरी उजास की दर्दीली आभा का भी बार-बार आवर्त्तन है। कविता के दूसरे खण्ड में फागुनी शाम और अंगूरी उजास के एक दूसरे से असंलग्न होने का भाव द्योतित कराने के लिए बेघर, बेपहिचान, दो राहियों का बिम्ब खड़ा किया गया है, जो अपने-अपने में लीन हैं, एक दूसरे की ओर अभिमुख नहीं, पर जहाँ तक नीचे एक लम्बी ढलान की ओर जाने वाली शाल-वीथी में घूमने का प्रश्न है, दोनों उसी में घूम रहे है। वासन्ती अनमनेपन की अधिक ऐसी सफल अभिव्यक्ति समानाधिकरण्य के द्वारा ही सम्भव हो सकी है। समापिका क्रिया का प्रयोग यहाँ पर समानाधिकरण्य मे स्खलन ला देता, अतः उससे जान-बूझकर बचा गया है।

काव्यात्मक वाक्य-विन्यास को इसी मायने में मैक हैमण्ड ने सामान्य भाषा के वाक्य-विन्यास से पृथक् करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि 'वाक्य-विन्यास काव्यात्मक उसी दशा में माना जाता है जब कि व्याकरण के स्तर पर समानान्तर घटक तत्त्व संयोजन या वियोजन के माध्यम से एक दूसरे के आमने-सामने रखे जायँ या किसी अन्य प्रकार से उभारकर एक साथ राशीकृत किये जायँ।'[३] दूसरे शब्दों में काव्यात्मक वाक्य-विन्यास काव्यार्थ की दृष्टि से चालू भाषा के वाक्य-विन्यास को मोड़ने की एक प्रक्रिया है, मोडते समय चालू भाषा के जो प्रत्याशित क्रम टूटते हैं, उन्हें हम रचनात्मक पेशवन्दी या विचलन (क्रियेटिव फोरग्राउंडिंग या डेविएशन)[४] कह सकते है।

यह विचलन चूँकि अर्थ-प्रेरित है, इसलिये केवल व्याकरण के स्तर पर नहीं, अर्थ के स्तर पर प्रयुक्त होकर ऊपर से विसंगत लगने वाले अर्थ को भी संगति दे देता है। उदाहरण के लिए *केदारनाथ सिंह* की **फर्क नहीं पड़ता** शीर्षक कविता के अन्त में दो टुकड़े आते हैं—

> **और यह समय है**
> **जब रक्त की शिरा**
> **शरीर से कट कर अलग हो जाती है।**
> **और यह समय है**
> **जब मेरे जूते के अन्दर की एक नन्ही सी कील**
> **तारों को गड़ने लगती है।**

इन पंक्तियों में कहीं भी व्याकरण की दृष्टि से कोई विचलन नहीं है, किन्तु कील तारों को गड़ने लगती है, इस वाक्य में अर्थ की दृष्टि से विचलन ज़रूर है। पर जब हम देखते हैं कि ऊपर की तीन पंक्तियों में अपने ही रक्त की शिरा शरीर से कट कर अलग हो जाती है तो उसके जोड़ने में यह प्रत्याशित है कि मेरी छोटी-

सी पीड़ा दूर आकाश के तारों को भी प्रभावित करे, क्योंकि अपने से बिलगाव दूसरे से जुड़ने के लिए ही तो सार्थक है। इस प्रकार ऊपर से अर्थ की दृष्टि से तारों को नन्ही-सी कील का गड़ना चुभता है, किन्तु दोनों खण्डों को साथ देखने पर यह विसंगति एक विशेष आर्थिक संगति को उभारने के लिए ही प्रयोजित दीख पड़ती है।

कभी-कभी जान-बूझकर लिंग-व्यत्यय या पुरुष-व्यत्यय किया जाता है, लोग इसे कवि का अधिकार मानते हैं, पर अज्ञानवश या छन्द की लाचारीवश भी ऐसा व्यत्यय कभी भी उचित नहीं ठहराया जा सकता। हाँ, जब यह किसी विशेष अभिप्राय से विनियोजित होता है तो इसका औचित्य अपने आप प्रमाणित हो जाता है। उदाहरण के लिए *निराला* का एक गीत लीजिए :

आज प्रथम गाई पिक पंचम

यहाँ पर एक तो 'ने' का प्रयोग नहीं है, दूसरे 'पिक' का स्त्रीलिंग में प्रयोग है, तीसरे यदि 'पिक' को छोड़ भी दें तो 'पञ्चम' के साथ 'गाई' की संगति नहीं है, किन्तु पिक में स्त्रीत्व का आरोप कोमलता की सृष्टि के लिए है और 'ने' का परिहार 'गाई' को 'पिक' के साथ साक्षात् रूप से जोड़ने के लिए। गाने के व्यापार की वर्तमानता पर जितना बल है उतना उसकी निष्पन्नता पर नहीं, इसलिए भी 'ने' का परिहार वाञ्छित है। संस्कृत जैसी बहुत ही सधी और अविचल भाषा में मानसिक उद्वेलन को द्योतित करने के लिए विचलन का प्रयोग जहाँ-तहाँ मिलता है। उदाहरण के लिए

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः॥
धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥

(**काव्यप्रकाश**, ७।१८३ में उद्धृत)

इस श्लोक में विधेय अंश पर जहाँ बल देना अपेक्षित है, वहाँ बल नहीं दिया गया है, जैसे—कहना चाहिए : 'अयमेव हि न्यक्कार', कहा गया : 'न्यक्कारो ह्यमेव' जिससे बल धिक्कार पर अधिक हो गया और धिक्कार की जो बात प्रमुख है, उस पर कम हो गया। किन्तु यद्यपि इसे प्राचीन भारतीय साहित्यिकों ने दोष माना, तथापि समग्र अर्थ की दृष्टि से यह विचलन उद्वेलन की तीव्रता का द्योतक होने के कारण अधिक सार्थक है। एक दूसरा उदाहरण *निराला* की **मरण दृश्य** शीर्षक कविता से लिया जाय—

कह रही हो—दुःख की विधि—
यह तुम्हें ला दी नयी निधि,—
विहग के वे पंख बदले,—
किया जल का मीन;

मुक्त अम्बर गया, अब हो
जलधि जीवन को।

इसमें विचलन के तीन बिन्दु हैं—पहला बिन्दु है 'दुःख की विधि' को क्रियाहीन छोडकर 'यह तुम्हे ला दी नयी निधि' के साथ जोड़ना। इसमें 'दुःख की विधि' के बाद तुरत 'यह' रखने का अभिप्राय दुःख की वर्तमान दुरन्तता को बिना किसी बीच के माध्यम के सीधे 'तुम्हें' (गीत के वक्ता) से जोड़ना है, 'नयी निधि' को क्रिया के बाद रख कर (दुःख की विधि) का पूरक बनाया गया है, वह केवल 'ला दी' का कर्म नहीं है। दूसरा बिन्दु है—'विहग के वे पंख बदले' के बाद कर्मबोधक 'विहग' को छोड़ कर 'किया जल का मीन' रखना। इसके द्वारा महत्त्वाकांक्षा या ऊर्ध्वग कल्पना की भूमिका से विस्थापित होकर अनन्त के साथ तादात्म्य या गहराई मे अवगाहन की भूमिका में नाटकीय ढंग से गीत के वक्ता का रूपान्तरण घोषित करना है—बीच में विहग का लोप इस नाटकीय परिवर्तन का द्योतक है, साथ ही 'जल का मीन' पूरक को क्रिया के बाद रखने का अभिप्राय उसकी मीन रूप में एक अन्तिम और अपरिवर्तनीय परिणति जतलाना है। विचलन का तीसरा बिन्दु है—'मुक्त अम्बर गया, अब हो जलधि जीवन को' में 'गया' के बन्द 'अब जलधि' रखना। वस्तुतः अपेक्षित क्रम था 'मुक्त अम्बर अब जलधि जीवन को हो गया,' किन्तु इसको तोडकर 'मुक्त अम्बर गया' यह पहले इसलिए कहा गया कि आकाश के खुलेपन का सुख सदा के लिए चला गया, अब वह सुख एक अनन्त दुःख के अगाध पारावार मे रूपान्तरित होकर सामने आ गया। 'जीवन को' सब से बाद में रखने का अभिप्राय है जीवन का जलधि के साथ पूर्ण रूप से तादात्म्य स्थापित करना तथा जलधि के सिवाय जीवन के लिए कोई दूसरा प्राप्य न रहने देना और इसके साथ ही जलधि के साथ ही जीवन की दूसरी कोई गति न रहने देना। दूसरे शब्दों में, दुःख मे ही जीवन की चरितार्थता स्वीकार करने पर विशेष बल देने के लिए यह क्रम-भग किया गया है।

नीचे की कविता में केवल विशेषण-विशेष्य-युक्त पद-बन्ध बाँधे गये हैं—

चुभती हुयी हवा
भिर भिर आवाज़ें
मन में गहराता हुआ अन्धकार,
पलक कोरों पर
बूंद, बूंद पिघल रही
उदास शाम की एक
उदास-सी याद,
और बाहर
पत्तों पर बजती बरसात। (समयातीत—कान्ता)

इस कविता में तीन खण्ड हैं, किसी भी खण्ड में क्रिया नहीं है। पहले दो खण्डों में भीतर एक प्रभाव जम रहा है। दूसरे खण्ड में इसके प्रतियोगी के रूप में बाहर घट रही घटना का आभास मिल रहा है—'पत्तों पर बजती बरसात'। पहले खण्ड में क्रमशः हवा अर्थात् स्पर्श, आवाज़ अर्थात् शब्द के बाद अन्धकार अर्थात् रूप। तीसरे खण्ड में इस अन्धकार को दीपित करने वाली अँसुआई उदास-सी याद है। किन्तु कहीं भी क्रिया नहीं है, केवल घटनाएँ हैं। कब घटीं या घट रही हैं, इसका कोई बोध नहीं कराया गया है। घटनाएँ समयातीत हैं, केवल उनका योग और उनका प्रतियोग ही महत्त्वपूर्ण है, इसलिए कालवाचक क्रिया यहाँ अनावश्यक बोझ हो सकती है।

तथाकथित विचलन के इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि यह वस्तुतः काव्य-भाषा के अपेक्षित अन्वय की पूर्ति के लिए ही उपयोजित किये जाते हैं और इस दृष्टि से इन्हें विचलन न मानकर काव्य-भाषा की संरचना की दिग्बोधक चुम्बकीय सूई मानना चाहिए, जो काव्य के ध्रुव-बिन्दु की ओर एक झटके में बल खाकर मुड़ जाती है। वह काव्य के ध्येय की ओर अभिमुख करने के लिये हर सम्भव मोड़ लेने के लिए तैयार रहती है, किन्तु जब तक उस ध्रुव गन्तव्य दिशा को संकेतित नहीं कर लेती, तब तक वह चंचल ही रहती है।

५

उपसंहार

पिछले चार अध्यायों में रीति-विज्ञान के लिए एक निदर्शनात्मक आधार-पीठिका मात्र तैयार की गयी है। इसकी विभिन्न सम्भावनाओं की चर्चा अलग-अलग पहलुओं से की जानी अपेक्षित है—उदाहरण के लिए—हम काव्य की या साहित्य की दूसरी विधा की रचना कितने प्रकार की हो सकती है, और उसके अनुकूल वाक्य, शब्द-रचना, ध्वनि-अनुगुणता, सादृश्य-विधान, प्रतीक-विधान, बिम्ब-विधान और उक्ति-विन्यास किस प्रकार अलग-अलग आगमन के द्वारा निर्धारित किये जा सकते हैं—यह प्रत्येक विधा की दृष्टि से अलग-अलग विचारणीय है। काव्य की संरचना को ही लें, प्राय. मोटे तौर पर तीन भेद किए जाते है—आख्यान-प्रधान संरचना, नाटकीयता-प्रधान संरचना और गीति-प्रधान सरचना। आख्यान प्रधान-संरचना की पहचान है सतही तौर पर अन्य-पुरुष की प्रधानता, कथा की सूत्रबद्धता, वर्ण्य-वस्तु की विविधता और छन्दो-विधान की सादगी और नियत-बद्धता। नाटकीयता-प्रधान कविता की संरचना की मुख्य-विशेषताएँ यह मानी जाती हैं कि उसमें कोई द्वन्द्व हो—एक से अधिक व्यक्तियो या एक से अधिक दृष्टियों के बीच, तर्क-वितर्क हो और आख्यान-परक संरचना की तरह से क्रमिक अवरोह-आरोह न होकर आकस्मिक आरोह-अवरोह हो। भाषा में मध्य पुरुष अधिक छाया हुआ हो, और उक्तियों में संवादिता या विसंवादिता ऐसी स्थापित हो कि उससे नाटकीयता का प्रभाव नया होता रहे। गीति-परक सरचना से (और आज की प्रवृत्ति अधिकांशत: गीत-परक संरचना की ओर ही है, आख्यान-प्रधान काव्य-संरचना, कहानी आदि गद्य-परक रचनाओं में ही सीमित हो गयी है और नाटकीयता-प्रधान रचना रंगमंच तक ही सीमित रह गयी है) ये अपेक्षाएँ की जाती हैं—उत्तम-पुरुष ही कविता के ऊपर हावी रहे और लय अधिक सीधी और प्रवहमान हो, जिससे उसमे अपने-आप बहा ले जाने की क्षमता हो, आख्यान की क्रमिकता और नाटक की आकस्मिकता के स्थान पर भावोच्छलता हो, जो निरन्तर आवेग-सूचक वाक्यों और पदबन्धों के द्वारा स्पष्ट रूप में बोधित होती रहे, इसमें यह ज़रूरी नहीं कि प्रत्येक वर्णित वस्तु में तर्कबद्ध रूप में सम्बन्ध स्थापित हो, सम्बन्ध स्थापित करने वाला सूत्र ज़रूर एक निश्चित भाव-बोध होना

चाहिए, जिसकी प्रतीति निश्चित रूप से कुछ बिम्बों, प्रतीकों, सादृश्य-विधानों या सार्थक विशेषणों की पुनरुक्ति के द्वारा अपने-आप प्रमाणित होती रहे, इसीलिए इसमें उपर्युक्त दो प्रकार की संरचनाओं की अपेक्षा लय अधिक सूक्ष्म और अन्त-र्निहित होती है। इसमें आख्यान-परक कविता की न तो नियत-बद्धता होती है, न नाटकीय कविता की जोड़-बन्दी या आकस्मिक मोड़ का झटका ही।

वाक्य-संरचना की दृष्टि से आख्यान-परक कविता में निश्चित काल-बोधक वृत्ति-निरपेक्ष वाक्यों की अधिक प्रधानता रहती है, जबकि नाटकीय कविता में आज्ञा, अनुरोध, आक्रोश, सम्भावना, आदि वृत्तियों के द्योतक वाक्यों की और गीतात्मक कविता में आवेगात्मक, प्रश्नात्मक, विस्मयात्मक और बीच में टूटने वाले वाक्यों की प्रमुखता दिखायी देती है। शब्दों के अर्थ-व्यापार के स्तर पर आख्यान-परक कविता में बिम्बात्मक अर्थ साहचर्य और उत्कर्षाधायक अर्थ-वैशिष्ट्य पर विशेष बल रहता है। गीतात्मक-काव्य में और विशेष रूप से आधुनिक गीतात्मक काव्य-संरचना में प्रतीक-विधान का विशेष उपयोग सार्थकता रखता है, जबकि नाटकीय संरचना में विशेष्य-केन्द्रित और सादृश्य-प्रधान उक्तियों पर आधारित अर्थाभिप्राय अधिक सार्थक बन जाता है। पर ये बहुत मोटे तौर पर किये गये वर्गी-करण हैं। एक तो ये भेद भी एकदम अलग-अलग प्रकोष्ठों के रूप में नहीं स्वीकार किये जाने चाहिएँ, प्रत्येक संरचना में एक से अधिक रूपों का योगदान कहीं न कहीं जरूर हो जाता है, पर उसके समग्र स्वर को ध्यान में रखते हुए उसे एक कोटि में डाला जाता है, इसलिए दूसरी कोटियों की विशेषताएँ एकदम न हों, यह बात व्यवहार में एकदम असम्भव है। केवल इतना देखना होता है कि गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों स्तर पर समग्र कविता का बल किन विशेषताओं पर है, उन विशेषताओं के आलोक में उस कविता का समग्र अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए।

हम अन्त में तीन कविताओं की व्याख्या परिशिष्ट के रूप में दे रहे हैं। इसके पीछे मुख्य उद्देश्य यही है कि समग्र संरचना को ध्यान में रखते हुए उसकी उभरी हुई विशेषताओं के माध्यम से कविता का समग्र अर्थ किस प्रकार व्याख्यायित किया जा सकता है, इसका एक निदर्शन प्रस्तुत करके ही इस प्रायोगिक विज्ञान के लिए ठोस जमीन तैयार की जा सकेगी। इसके अलावा एक दूसरी बात यह भी है कि जिन कविताओं को व्याख्या के लिए चुना गया है—वे अपने समग्र स्वर में आख्यान-परक, नाटकीय और गीतात्मक हैं। 'प्रलय की छाया' में आख्यान का स्वर ही प्रमुख है। यद्यपि 'मैं' के रूप में ही कहानी अधिकतर कही गयी है। 'राम की शक्तिपूजा' में नाटकीयता प्रधान है, यद्यपि अन्य-पुरुष ही ऊपर से अधिक हावी दिखता है; इस कविता में द्वन्द्व या संघर्ष व्यक्तियों में न होकर एक व्यक्ति के कई रूपों के बीच है, और इसकी नाटकीयता कुल विशेषताओं के योग से ही पूरी तरह

प्रमाणित होती है। 'असाध्य-वीणा' का प्रमुख स्वर गीतात्मक है और नाटकीयता और आख्यान उसके पोषक मात्र हैं। ये तीनों कविताएँ जान-बूझकर इसीलिए चुनी गयी हैं कि सतही लक्षणों से अधिक लक्षणों के समग्र योग और केन्द्रीय भाव के ग्रहण के सूक्ष्म भाषागत संकेतों की ओर ध्यान देना रीति-विज्ञान की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

रीति-विज्ञान का एक दूसरा आयाम एक काल-विशेष की, विधा-विशेष की सरचनागत विशेषताओं के माध्यम से उस काल-विशेष के मानस-संस्कार को ग्रहण करने में उपयोजित किया जा सकता है। इस प्रकार का अध्ययन सोवियत संघ मे और चेकोस्लोवाकिया में सम्प्रेषण की सोद्देश्यकता की खोज के उद्देश्य से किये गये हैं। सोवियत भाषा-विज्ञान की यह सामान्य संधारणा है कि "भाषा एक ऐतिहासिक और सामाजिक घटकों से निर्धारित प्रतीक-व्यवस्था है और यह वस्तुत अनेक उपभाषाओं की एक समग्र राशि है। विभिन्न प्रकार के भाषा-व्यवहारो के अनुभाव्य प्रतीकों का भाषागत भेदों का संगत उत्तर विभिन्न सामाजिक समुदायो के सामाजिक कार्यों और उद्देश्यों में ही ढूँढा जाना चाहिए जिनसे कि वह व्यवहार-विशेष सम्बद्ध है। इस प्रकार सामाजिक और उद्देश्य-प्रधान दोनों दृष्टियाँ भाषा के अध्ययन के लिए आवश्यक हैं।"

रीति-विज्ञान का तीसरा आयाम काव्य, कथा, नाटक या सामान्य वाङ्मय (दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान, विधि-शास्त्र) किसी भी विधा की भाषिक अभिव्यक्ति की अनेक युगवर्ती निरन्तरता की तलाश के लिए उपयोजित किया जा सकता है। प्रोफ़ेसर *जोसेफीन माइल्स* ने **दि कन्टीन्यूटी ऑफ़ पोयटिक लैंग्वेज** नामक ग्रन्थ में काव्य-भाषा की निरन्तरता का एक ऐसा अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह अध्ययन, जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है "काव्य-भाषा के विशिष्ट स्वभाव, उद्देश्य तथा भाषा की सामान्य प्रवृत्ति के बीच सम्बन्ध की तलाश में केन्द्रित है और एक प्रकार से यह कवि के संरचनात्मक चयन और भाषा की सामाजिक सोद्देश्यकता—दोनों के बीच एक नियत सम्बन्ध की अपरिहार्यता की ही खोज है।"[१] इस प्रकार के अध्ययन से हिन्दी साहित्य की समीक्षा मे एक विशेष सार्थकता है, क्योंकि प्रायः यह भ्रम लोगों के मन में फैला हुआ है कि काव्य-भाषा बीसवीं सदी में एकदम बदल गयी है और उसका पिछली काव्य-भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस भ्रम का निराकरण ऐसे ही अध्ययन से होगा, क्योंकि तभी हम यह देख सकेंगे कि वैदिक काव्य से लेकर आज की कविता तक काव्य-भाषा के विविध उपादानों का एक गहरा सम्बन्ध सामाजिक सोद्देश्यता से रहा है और उस सोद्देश्यता की अभिव्यक्ति के लिए जो भी साधन भाषा मे इस्तेमाल किये जाते रहे हैं, उनमें एक निरन्तरता बनी रही है। इसीलिए **ऋग्वेद** के रात्रि-सूक्त से **वाल्मीकि रामायण** की शोक-मग्न अयोध्या के वर्णन का सम्बन्ध

और इस वर्णन से मध्यकालीन भक्त-कवियों द्वारा वर्णित आध्यात्मिक विषाद की काली रात के वर्णन और आज की कविता में निराशा के गहरे स्वर के उन्मीलन के साथ सम्बन्ध सुनिश्चित मापदण्डों के आधार पर जोड़ा जा सकता है, क्योंकि पिछली भाषा की ज़मीन पर ही आगे की काव्य-भाषा खड़ी होती है और अगर नहीं खड़ी होती है, तो वह अपने आगे-पीछे दोनों से कट जाती है और वह केवल तमाशाई कविता के रूप में इतिहास का एक पृष्ठ मात्र रह जाती है।

रीति-विज्ञान का एक चौथा आयाम शुद्ध सांख्यिकीय आधार पर खड़ा किया जा सकता है, जिसमें आधुनिक संगणकों के द्वारा वाक्य प्रकार, शब्द-रचना के घटक तत्त्वों के प्रकार, ध्वनि-संरचना में अलग-अलग पुनरावर्त्तमान ध्वनियों के प्रकार, अक्षरसंरचना और ध्वनिसंरचना से उत्पन्न होनेवाले विभिन्न लय-संयोजनाओं के प्रकार, उक्ति-विधान के विभिन्न प्रकार और उन प्रकारों के द्योतक शब्द या पद-बन्ध विशेषों के अर्थ या रूप पर आधारित प्रकार—इन सबका अनुपात निकालकर एक रचनाकार या अनेक युगों के रचनाकारों या एक विशेष प्रकार की रचना, या केवल एक रचना की क्षमता और अक्षमता—दोनों का परिमापन किया जा सकता है। इस प्रकार के अध्ययन से किसी रचनाकार विशेष के एक तो क्रमिक विकास या ह्रास का ठीक-ठीक परिमापन किया जा सकता है, दूसरे एक साहित्य-प्रवृत्ति-विशेष के उत्कर्ष या अपकर्ष का भी परिमापन करने में कुछ ठोस भाषागत आधार पाया जा सकता है।

इन सभी आयामों से कठिन रीति-विज्ञान के अध्ययन का एक आयाम है, जो शास्त्रीय-परिभाषाओं (चाहे पश्चिम की हों या पूर्व की) को समीकृत करने का प्रयत्न करे और उनके सार्थक और असार्थक, अच्छे और बुरे—दोनों प्रकार के उदाहरण संकलित करे, ये उदाहरण केवल रूढ़ उदाहरण न हों, बल्कि समसामयिक सन्दर्भ से भी जुड़े हों, तभी वैदुषिक स्तर पर इनका सर्जनात्मक उपयोग हो सकेगा, नहीं तो इस प्रकार का अध्ययन तोतारटन्त प्रक्रिया में पड़कर रीति-विज्ञान को ही नष्ट कर देगा। कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय ने कुछ वर्ष पूर्व इस प्रकार की पारिभाषिक शब्द-सूची उदाहरणों के साथ संकलित करना प्रारम्भ किया था। अलंकारों के क्षेत्र में हमारे देश में भी बहुत उपयोगी और विशद अध्ययन हुए हैं, लेकिन समग्र दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर विवेकपूर्वक संकलित करके ऐसा काम न पश्चिम में हुआ है न पूर्व में। यह काम वैसे है भी तभी सम्भव जबकि ऊपर संकेतित आयामों में अनेकानेक अध्ययन प्रस्तुत हो जाँय और रीति-वैज्ञानिक विवेचन अपनी सार्थकता इन अध्ययनों के द्वारा प्रमाणित कर ले, तभी इस प्रकार के कोष का परिपक्व रूप सामने आ सकेगा। यह जरूर है कि उसके लिए तैयारी छोटे-छोटे पैमाने पर अभी से होनी चाहिए और विभेदक लक्षणों के बारे में उदाहरण देकर स्पष्ट चर्चा की जानी चाहिए। इसीलिए लेखक ने पहले के

अध्यायों में सैद्धान्तिक प्रतिपादन से अधिक सोदाहरण व्याख्या पर ध्यान दिया है। लेखक का विचार है कि कविता की रीतियों के निदर्शन के लिए एक ऐसा सक-लन तैयार करे, जिसमें कवि केन्द्र में न हो, कविता और उसकी अभिव्यक्ति की भंगिमाएँ ही कविता के क्रम-विन्यास की निर्धारिक हों और मुख्यत: हिन्दी की कविताएँ ही संकलित की जायँ, पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—आदि दूसरी भाषाओं से अनूदित कविताएँ भी एक बड़ा परिदृश्य देने के लिए इसमें जोडी जायँ। प्रस्तुत ग्रन्थ रीति-विज्ञान की केवल एक दिङ्‌मात्र भूमिका है, जिसमें उसकी कुछ सम्भावनाओं का सोदाहरण परिचय दिया गया है और वह भी विशेष रूप से काव्य-विधा के सन्दर्भ में और हिन्दी के पाठक को ध्यान में रखते हुए विशेष रूप से आधुनिक हिन्दी की काव्य-विधा को केन्द्र में रखकर। सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों दृष्टियों का प्रारम्भ में समन्वय आवश्यक था, इसलिए इस ग्रन्थ में, मध्यम मार्ग का ही अवलम्बन किया गया है, और अतिशास्त्रीयता तथा अतिसरलीकरण दोनों से बचने की कोशिश की गयी है। इसीलिए अक्षमताओं की ओर उतना अधिक संकेत नहीं किया गया है कि पहले गुणों की पहचान हो जानेपरही दोष की अवगुणता समझ में आती है। दोष का उद्‌भावन पहले करना उचित नहीं प्रतीत हुआ। अपने प्रस्तावित संकलन में लेखक जरूर यह प्रयत्न करेगा कि कुछ उन अक्षमताओं की ओर भी संकेत किया जाय जो सर्जन की शक्ति में ह्रास के कारण हैं या जो एक विशेष रीति में बँधने के मोह के कारण कवि की उक्ति में साफ जाहिर हो जाती हैं। इस ग्रन्थ में लेखक ने यह सीमा बाँधी थी कि रीति-विज्ञान एक सर्जनात्मक आलोचना का आधार खड़ा कर सकता है और इस दृष्टि की ओर अभिमुख करके साहित्य के अध्येता और अध्यापक—दोनों को ही रीति-विज्ञान साहित्य रचना में अधिक आत्मीय रूप में सम्पृक्त कर सके, इसके लिए यह ग्रन्थ सहायक हो सकेगा।

परिशिष्ट : १

पाद टिप्पणियाँ

१

रीतिविज्ञान : परिधि और प्रयोजन

पाद टिप्पणी—१

बलदेव *उपाध्याय* **संस्कृत और आलोचना,** पृष्ठ १२७-१२८।

पदों की विशिष्ट रचना या संघटन का नाम रीति है। रीति की उपमा मानव-शरीर में अंगों के संगठन के साथ दी जाती है। मनुष्य के शरीर में अंगों का परस्पर अनुकूल संघटन है अर्थात सब अंग अपने-अपने स्थानों पर रहने से ही शरीर को एक बनाये रहते हैं। यदि वे अपने स्थान से च्युत हो जायँ, तो यह शरीर नितात कुरूप मालूम पड़ेगा। आँखें मुखमंडल में ही रहकर शोभा पाती हैं, और उन्हें वहाँ से हटाकर कहीं अन्यत्र रखा जायेगा, तो वे शरीर को बहुत बेढंगा बना देंगी। पदो के संघटन की भी यही दशा होती है। पदों को अपने-अपने स्थानों पर रखने से ही कविता में या निबन्ध में चमत्कार आता है तथा एक विशिष्ट आनन्द उत्पन्न होता है। एक विशेष बात इस लक्षण में ध्यान देने की है, रीति पदों की विशिष्ट रचना होती है, केवल रचना नहीं, वह पदों की संघटना होती है, केवल घटना नहीं।

पाद टिप्पणी—२

भरत : **नाट्यशास्त्र** : २२/६५-६६।

> **शृंगारे चैव हास्ये च, वृत्तिःस्याद् कैशिकीति सा**
> **सात्वती नाम सा ज्ञेया, वीररौद्राद्‌भुताश्रया॥**
> **भयानके च बीभत्से, रौद्रे चारभटी भवेत्।**
> **भारती चापि विज्ञेया, करुणाद्‌भुतसंश्रया॥**

अर्थात्—कैशिकी वृत्ति का उपयोग शृंगार तथा हास्य-रस के प्रसंग में किया जाता है। सात्वती का वीर, रौद्र तथा अद्‌भुत रसों में, आरभटी का भयानक, बीभत्स तथा रौद्र रसों में तथा भारती का करुण तथा अद्‌भुत रसों में प्रयोग किया जाता है। पिछले नाट्यकारों ने भी वृत्ति और रस के इस सामंजस्य को कुछ परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है।

बलदेव उपाध्याय : **संस्कृत आलोचना,** पृष्ठ १३४ पर उद्‌धृत।

पाद टिप्पणी—३

ओल्गा अखमनोवा : दि प्रिंसिपल्स एण्ड मेथड्स ऑफ़ लिंग्वोस्टाइलिस्टिक्स, पृष्ठ ५।

In other words, style is a concept which can be applied to any two or more objects, provided they are essentially the same, while offering in some characteristics which are more or less superficial in the sense that they do not form part of the objects.

पाद टिप्पणी—४ (क) तुलनीय

फिलिप व्हीलराइट : **मेटाफ़र एण्ड रियलिटी**, पृष्ठ ४६।

'मानव अनुभव के जीवित सत्यों को यथेष्ट रूप में या लगभग यथेष्ट रूप में जो भाषा व्यक्त कर सकेगी, उसे स्वयं जीवित होना चाहिए और चूँकि ऐसे सत्य हमेशा कुछ न कुछ स्पष्ट, बहुरंगी और हाथ की पकड़ में न आने वाले हैं, स्वाभाविक है कि केवल उसको अभिव्यक्त करने के लिए ऐसी ही भाषा कुछ हद तक समर्थ हो सकेगी, जो उसके उपयुक्त हो और निर्दिष्ट नियन्त्रणों के द्वारा अनुभव के इन गुणों को प्रतिबिम्बित कर सके।

Language that can adequately, or almost adequately, speak forth the living truths of human experience, must itself be living, and since those truths are always somewhat dark, kaleidoscopic and elusive, an appropriate language will, to some extent, and with chosen controls, reflect those realities.

पाद टिप्पणी—४ (ख) *तुलसीदास* : **रामचरितमानस**।

जिमि मुख मुकुर, मुकुर निज पानी।
गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥

पाद टिप्पणी—५

आर. *न्योली*—**दि एस्थेटिक एक्सपीरियेंस एकार्डिंग टु अभिनवगुप्त**, भूमिका, पृष्ठ XXV-XXVII, संक्षिप्त रूप में प्रतिपादित मत।

काव्येतरभाषा सूचनोद्दिष्ट है, जबकि काव्यभाषा पाठक-श्रोता में रागात्मक अनुभव उद्बोधित करती है।···इसीलिए काव्यात्मक 'शब्द' हमेशा नया और कुँआरा रहता है।

Poetic language is different from the language of prose, it ---- in the reader echoes and feelings in a word aesthetic

experience, foreign to prose, whose value is purely informative and didactic......The poetic word is an end in itself and, once read and tasted, loses nothing of its intrinsic value but remains, as it were, virgin and intact.

पाद टिप्पणी—६ (क) *ओल्गा अखमनोवा* : **दि प्रिन्सिपल्स एण्ड मेथड्स ऑफ़ लिंग्वो-स्टाइलिस्टिक्स**, पृष्ठ ६।

ऊपर जो कहा गया है उससे स्पष्ट है कि भाषाई इकाइयाँ रीति के रूप में इस लिए व्यापारित होती है कि उनमें कुछ अभिव्यंजनात्मक, मानात्मक और रागात्मक निहितार्थ होते हैं, जो उनके मुख्य वाच्यार्थ के ऊपर आरोपित किए जा सकते हैं। ये निहितार्थ किसी भी भाषाई इकाई के बीच अन्तर्भूत मुख्यार्थ के सहचर होते है। भाषा की रीति वह अंश है, जो कि उसका स्वभाव है, अर्थात्—जो कि उसके अभिव्यंजक, मानात्मक और रागात्मक लक्षणों की विशिष्टता है।"

It follows from what has, just, been said that linguistic unit may function stylistically, because they possess certain expressive-evaluative-emotional overtones, which are superimposed on their main semiotic content. These overtones accompany the main semiotic case of a linguistic unit, the meaning proper. Linguistic style is that part of language, which is used to impart to the message, certain expressive-evaluative-emotional features. Consequently linguo-stylistics concerns itself with the nature/peculiarities/of the expressive evaluative-emotional features of linguistic units.

पाद टिप्पण—६ (ख) *हेनरी मार्कीविज* : **इवैल्युएशन इन दि स्टडी ऑफ़ लिट्रेचर—पोयटिक्स**, पृष्ठ ८०।

"किसी भी साहित्यिक कृति के किसी भी उपादान तत्त्व के व्यापारगत प्रयोजकत्व की साधारण ही संरचनात्मक विश्लेषण की आधार-शिला होती है। यह आधार-शिला अपने लिए कुछ विशेष सीमाएँ निर्धारित करती हैं। प्रायः कृतिकार के अभिप्राय को लेकर प्रयोजकता की बात काल्पनिक मानकर अप्रमेय मान ली जाती है और उसको काव्य-विश्लेषण में हेय समझ लिया जाता है, किन्तु इसके विपरीत, चूँकि निर्दिष्ट भाषाई तत्त्व साहित्यिक-कृति की रचना में साझीदार है, इसी से स्वतःसिद्ध है कि इसकी एक प्रयोजकता है कि वह कृति किसी उद्देश्य को प्राप्त करे, हम दुहराना चाहेंगे कि आलोचक और अध्येता कभी भी इस माने मे इस प्रयोजकता की बारीकी की पहचान में पीछे नहीं रहते।

The corner-stone of structural analysis—the notion of the functional expediency of each element of the literary work—creates special reservations. Expediency with regard to the

author's intention is generally cast away as unverifiable. Or the other hand, as the given element participates in the creatioi of the literary work, ipso facto its function is that work alway: attains some purpose or other, we should like to repeat that both scholars and critics are never short of sophistic inventiveness in this respect.

पाद टिप्पणी—७

ओल्गा अखमनोवा : **दि प्रिंसिपल ऐण्ड मेथड्स आफ लिंग्वोस्टाइलिस्टिक्स, पृष्ठ ८।**

यदि वे (भाषा की इकाइयाँ) सन्देश-प्रेपण के अपने मुख्य कार्य के अलावा दूसरे उद्देश्यों के लिए प्रतीकात्मक मूल्यवत्ता प्राप्त कर लेती है, तो वे अपने मुख्य और उपादानगत कार्य के साथ ही साथ एक अतिरिक्त-प्रयोजकता भी प्राप्त कर लेती है। यह अतिरिक्त-प्रयोजकता रीतिविज्ञान या 'लिंग्वो-स्टाइलिस्टिक्स' का विचार विपय है।"

If they acquire symbolic value, if they are used for other purpose—these always come as something additional, subservient, to their main and constitutive function. It is this additional function, which is the subject of linguo-stylistics.

पाद टिप्पणी—८

एस० के० डे० : **संस्कृत पोयटिक्स** : खण्ड २, पृष्ठ ९० ।

वामन ने स्पष्ट कहा है कि 'रीतिरात्मा काव्यस्य' (१/२/७) और इस रूपक की व्याख्या करते समय उन्होंने कहा है कि शब्द और अर्थ उसके शरीर है और रीति उसकी आत्मा है (१/१/१...**काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति**)। उन्होंने रीति की परिभाषा 'विशिष्ट पद-रचना' की है—और जिस प्रकार किसी चित्रपट पर खींची गयी रेखाएँ ही किसी चित्रपट का मूलाधार बनती है, उसी प्रकार' तीन' प्रकार की रीतियों के ऊपर ही कविता खड़ी होती है (**काव्यालंकार सूत्रवृत्ति**, १-३-१३)।

Vaman lays down in clear terms : ritiratma kavyasya, 'the Riti is the soul of the poetry' (1.2.7) ; and working out this figurative description he points out (on 1.1.1) that the word (*sabda*) and its sense (*artha*) constitutes the 'body' of which the soul is Riti. He defines the Riti as 'visista-padarachana' or particular arrangement of words..... on these three Ritis poetry takes its stand, just as painting has its substratum in the lines drawn on the canvas (on 1 3 13)

पाद टिप्पणी—९

वामन : **काव्यालंकारसूत्र वृत्ति**, १-२-१३—विशिष्टपदरचना रीतिः।

पाद टिप्पणी—१०

वृत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मतभेदों पर *श्री कान्तिचन्द्र पाण्डे* ने **'कम्पेरेटिव एक्थेटिक्स**— खंड १, पृष्ठ ४६६ से ४७७ तक विस्तार मे प्रकाश डाला है, जिसका संक्षेप यह है :

भोज ने **सरस्वती-कण्ठ-भरण** में चित्त की चार अवस्थाएँ मानी हैं : विकास, विक्षेप, संकोच और विस्तार। *अभिनव-गुप्त* ने **अभिनव-भारती** में दृश्य-काव्य की वृत्तियों को 'माता' के रूप में अर्थात् 'सर्जयित्री' के रूप में देखा हैं। एक प्रकार से कायिक, वाचिक और मानसिक अवस्थाएँ ही अपने वैचित्र्य के कारण आकार ग्रहण करती हैं, इसीलिए नाट्य के लिए वे विशेष उपयोगी होती है। भोज ने 'वृत्ति' की व्याख्या तीन प्रकार से करने का यत्न किया हैं—

१. 'वृत्ति' रस-व्यापार है।

२. इसके द्वारा चित्त-वृत्तियों का द्योतन होता है।

३. ये चित्तवृत्तियों को वर्तित करती है, इसलिये 'वृत्ति' हैं।

इसके अलावा उन्होंने शब्द-वृत्ति के रूप में भी 'वृत्ति' को ग्रहण किया है और वहाँ अनुप्रास के प्रादेशिक भेदों (कर्नाटक, कौन्तेय आदि) का परिगणन किया है। जहाँ यक इसका प्रश्न है कि कौन-सी 'वृत्ति' किस 'रस' के अनुकूल है—इस संबंध में नाट्य-शास्त्र के आलोचकों में वड़ा मतभेद है।

पाद टिप्पणी—११

बलदेव उपाध्याय— **तदेव**, पृष्ठ ३६ (विवरण के लिए)।

पाद टिप्पणी—१२

विलियम० एम० रसेल—**लिंग्विस्टिक स्टाइलिस्टिक्स : लिंग्विस्टिक्स** पृष्ठ ७५।

रीति के सम्बन्ध में पारम्परिक अमीरीकी दृष्टि ध्वन्यात्मक-वैशिष्ट्य से अतिरिक्त प्रभावित है, विशेष रूप से मुक्त-रूपान्तर के अध्ययन से।

The traditional American approach to style seems to have been strongly colored by phonological preoccupations, especially by the study of free variation.

पाद टिप्पणी—१३ (क) *विलियम एम० रसेल*—**तदेव**, पृष्ठ ७६।

इस समय पहले की यह धारणा कि रीति की आकल्पना अपवाद या व्याकरण

च्युति के रूम में ही संभव है, अव चयनात्मक-रीति धारणा के पक्ष में त्यागी जा रही है। किसी भी साहित्यकार के लिए उपलब्ध व्याकरणात्मक विकल्पों मे से चयन ऐसे सांचे में रूपायित किये जा सकते हैं, जिनमें कि वाच्यवाचक के महत्त्व-पूर्ण गुणात्मक वैशिष्ट्य उभारे जा सकें, उनका प्रकाशन दो प्रकार से हो सकता है, काकु या बलाघातजन्य प्रभाव के रूप में या वक्तृबोद्धव्य संबंध के वैशिष्ट्यबोधक प्रभाव के रूप में।

The possibilities for the concept of style as exceptional or 'deviant' grammatical behaviours have been somewhat slighted in favour of the familiar literary concept of style as choice. For the literary man, choices among available grammatical alternatives can pattern to signal important qualitative verbal adjustments, which may be described as providing for particular kinds of effects in speech or as witnessing a particular kind of orientation of speaker towards an addressee.

पाद टिप्पणी—(ख) तुलनीय मम्मट।

काव्यप्रकाश, ३, उल्लास : कारिका २१-२२।

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥

पाद टिप्पणी—१४

एल० डोलोजेल—**दि प्राग स्कूल एण्ड दि स्टैटिस्टिकल थियोरी ऑफ पोयटिक लैंग्वेज**, पृष्ठ १०३।

सम्प्रेषणात्मक और काव्यात्मक दोनों प्रकार के दो प्रयोजन वाली भाषाओं मे मुख्य अन्तर यह है कि सम्प्रेषणात्मक भाषा के बाह्य अर्थ या सन्दर्भ की अभि-व्यक्ति पर ही विशेष बल है, जबकि काव्यात्मक-व्यापार में बल संकेतित करने वाले भाषायत-संकेत पर हो जाता है और काव्य-भाषा अपने मुख्य-उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सम्प्रेषणात्मक भाषा में शब्दार्थ-प्रकाशन के प्रचलित मानदण्डों और संयोजनाओं का अनुसरण ककती है, यह संकेत और संकेतित के बीच ध्रुव और निश्चित सम्बन्धों में कोई उद्वेग नहीं पैदा करती। सामान्यत: सम्प्रेषणात्मक भाषा का लक्षण है—भाषाई साधनों और नियमों का यन्त्रवत् अनुवर्तन। इसके विपरीत काव्य-भाषा में भाषा और भाषासंकेत की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए संकेत और संकेतित के रूढ़-सम्बन्धों को नष्ट करना पड़ता है या कम-से-कम उसे स्थानान्तरित करना पड़ता है। इसे भाषाई-साधनों और नियमों को असाधारण अप्रत्याशित और सर्जनात्मक-रूप में संचालित करना पड़ता है।

पाद टिप्पणी—१५

मम्मट—**काव्य प्रकाश**, चतुर्थ उल्लास : कारिका खण्ड ६१ की व्याख्या के लिए विस्तृत व्याख्या देखिए। यह पदैकदेशभूत कालवाचक प्रत्यय से रस की अभिव्यक्ति का उदाहरण *भवभूति* कृत **महावीर** चरित के द्वितीय अंक से लिया गया है।

पाद टिप्पणी—१६

तुलनीय—*मैकिन्टोश और हेलिडे* : **पैटर्न्स आफ लैंग्वेज,** पृष्ठ ८३।

यहाँ पर केन्द्रभूत महत्त्व की बात यह है, (कितनी भी छोटी बात क्यो न लगे) कि यदि कोई कुछ इस प्रकार कहना चाहता है, जो किसी निर्दिष्ट परि-स्थिति के अनुकूल कहा जाय, तो वह अपने आप कुछ उक्ति-खण्डों के क्रमावर्तों मे से जिस किसी एक को चुनता है, उसमें उलझ जाता है। ये सम्भावनाएँ भी नाना-प्रकार की सम्भावनाओं में से चुनी गयी सम्भावनाएँ होतीं हैं। इन्हें सम्भाव-नाएँ इसलिए कहना चाहिए कि ये समग्र-भाषा के नियम का अनुसरण करने वाली नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता है, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी परिस्थिति मे से सब नियमानुसार ग्राह्य नहीं हैं, हाँ भले ही प्रस्तुत परिस्थिति के अनुरूप न हो।

A matter of central importance here, however trivial it may seem, is this, that if someone is to say things which are to fit into a given situation, he is involved in the selection of one of a quite small number of utterances, or sequences of utterances, out of a very large number of possibles—'possibilities' in the sense that no of these others would be branded as failing to comply with the rules of the language as a whole ; they would all be acceptable some where, no matter in what degree they might be unsuitable in this situation.

पाद टिप्पणी—१७

तुलनीय—*ओल्गा अखमनोवा* : **तदेव,** पृष्ठ ३५।

रीति की धारणा विकल्प मानकर जितनी दूर तक चलती है, वहाँ उतनी ही दूर तक यह भी मानकर चलती है कि भाषा-व्यवस्था द्वारा प्रस्तुत विभिन्न रूपों और रचनाओं में से वक्ता या लेखक द्वारा चयन भी इसी धारणा के अन्तर्गत अन्तर्निहित है। व्यवस्था होने के कारण भाषा को कुछ-न-कुछ नियन्त्रण लगाना ही होता है और इसीलिये उसकी प्रवृत्ति ——— विश्लेषण द्वारा ही अन्वेष्य है

सख्यात्मक पद्धति का मुख्य सिद्धान्त यह है कि संख्यात्मक पुनरावृत्ति के आधार पर किसी-न-किसी मानक की स्थापना की जाय, पुनरावृत्ति की कोई नियमित प्रक्रिया स्थापित की जाय, और औसत मूल्यों की एक शृंखला ढूंढ़ निकाली जाय, तभी इन औसत मूल्यों से व्यतिरिक्तता के आधार पर अतिशायी चयन का परिमापन किया जा सकेगा।

In so far as the very concept of 'style' presupposes variation, it must be assumed that it also implies choice by the speaker or writer from among the various forms and constructions the linguistic system offers him. Being a system, it can not but impose so many think, can be discovered only by means of statistical analysis. The main principle of the statistical approach is to establish a certain statistical norm, a certain statistical regularity, to find a set of average values. Individual 'choice' will then be measured in terms of deviation from these 'norms' or average values.

पाद टिप्पणी—१८

देखिए—*शाबो ज़ोत्तान* : दि टाइप्स आफ स्टाइलिस्टिक स्टडीज एण्ड दि कैरेक्टराइज़ेशन आफ इनडिवीजुअल स्टाइल : एन आउटलाइन आफ प्राब्लेम्स लिंग्विस्टिक्स ६२, पृष्ठ ९६।

The ordered system of phenomena that may be included in the science of style is as follows :

1. Expressiveness, stylistic function of a linguistic element (sound, word, suffix, syntactic, structures, etc.).

2. Style of a written or spoken message. Those messages are realized as actual, concrete (textual) forms of communication. For example the style of a dialogue, paper, poem, newspaper, article etc.

3. Style of a type of message. These types of messages (classified according to diverse criteria) are realized as the sum of the common characteristics that occur in the actuals, concrete (textual) messages of the same type, e.g. scientific style (the style of scientific literature) or the style of an individual genre, literary school, etc.

पाद टिप्पणी—१९

कालिदास : **रघुवंश**—१८ सर्ग । श्लोक ६६ ।

पाद टिप्पणी—२०

तुलनीय—*फिलिप व्हीलराइट* : **तदेव**, पृष्ठ ३६-४० ।

कभी भी एक निश्चित एव परिभाषित सम्पूर्ण नहीं होता, सत्य के लिए मनुष्य की उत्सुकता न तो सार्वजनिक सहमति से, न सुरक्षित परिच्छिन्नता से ही सन्तुष्ट हो सकती है। मनुष्य को ज्ञान की अधिकतर पूर्णता के लिये एक इच्छा निरन्तर बनी रहती है, यही इच्छा उसे ऊपर उठाती है, यही इच्छा पूर्वप्रयुक्त या निर्दिष्ट रूप में परिभाषित शब्दों की वाच्य-परिधि के परे मन की उत्कण्ठा को ले जाती है। इसलिए कितने भी व्यापक रूप या कितनी भी कल्पनाशक्ति लगाकर भाषा की कोई परिनिष्ठित व्यवस्था या व्यवस्था में बाँधी जायँ, जब तक कि मानव कल्पना सजीव है, तब तक भाषा के खुलेपन के आविष्करण और उसके स्रोतों के विकास के लिए माँग निरन्तर उठती रहेगी।

A definite whole is never the whole. Man's itch for truth cannot be entirely satisfied either by public agreement or by secure precision. There is also in man a desire, and it is a more ennobling one, for greater fullness of knowledge, a yearning of the mind toward what lies beyond the reach of words as already used or as prescriptively defined. For this reason, however, extensively and ingeniously any closed system or systems or language may be contrived, these will always be a need, so long as human imagination remains alive to explore and develop the resources of open language.

पाद टिप्पणी—२१

तुलनीय —*मैकिंटोश* और *हेलिडे* : **तदेव**, पृष्ठ ६४ ।

रीति की दृष्टि से चयन किये हुए वास्तविक व्याकरणात्मक साँचे निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण हैं, किन्तु वे रीति की पूरी कहानी नहीं कह सकते और उन्हें शब्द-राशि के चयन तथा विभिन्न प्रकार के अर्थच्छटा-परिदृश्यों के चयन के साथ संलग्न करके ही अध्ययन करना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि लम्बे अवतरण विस्तरों में फैले हुए शब्द राशि-गत विशेषताओं का अध्ययन करने पर ही रीतिगत साभिप्रायता साफ-साफ नजर आती है।

The actual gr[illegible] patterns selected in utterance are

of course highly important from the point of view of style, but they are only past of the story and should be studied in close association with the selection from lexis and with various collational phenomena. Needless to say lexical features carrying over large streches of text, far beyond the dimensions of the sentence, are often of great stylistic significance.

पाद टिप्पणी—२२

तुलनीय—एडवर्ड स्टैंकीवीज : **पोयटिक एण्ड नान-पोयटिक लैंग्वेज इन देअर इन्टर-रिलेशन—पोयटिक्स**, पृष्ठ २३।

साहित्य का विश्लेषण भीतर से ही शुरू होना चाहिए अर्थात् पूरे रचनाखण्ड से, जोकि उसका मूर्त तथ्य है, किन्तु इसे जीवन और संस्कृति की समग्रता की ओर अगाङ्गि भाव और साधारणीकरण के माध्यम से गतिशील बनाना चाहिए। हाँ, भाषा-विज्ञान की तरह से रीति-विज्ञान को अपनी परिधि का विषय इसका ध्यान रखते हुए सीमित करके ही रखना चाहिए कि अतिविखण्डन से बचते हुए स्वायत्तता की रक्षा कैसे की जा सकती है। भाषा-विज्ञान और रीति-विज्ञान दोनों को अतिशय बिलगाव से बचना चाहिए— विशेष रूप से एक दूसरे से बिलगाव से।

The analysis of literature must begin from the inside from the single text, which is its concrete datum, but must move outside towards totality of literature and of culture, by means of phytheses and generalization. Like linguistics poetics must aim at delimiting its field of inquiry bewaring at the same time of atomism, while aiming at autonomy, both linguistics and poetics, must avoid isolation, particularly isolation from each other.

टिप्पणी—यह चेतावनी यान्त्रिक विश्लेषण करने वाले उन भाषाविदों के लिए भी है, जो व्याकरण के अलावा भाषा में कुछ नहीं देखते और सांस्कृतिक-व्याख्या के मोह में पड़ने वाले आलोचकों के लिये भी है। साहित्य-जीवन की व्याख्या नहीं है, जीवन का एक समानान्तर जीवन है, जो जीवन की सोद्देश्यता को स्थापित करने के लिये जीवन को जीवनेतर पर जीवनांगभूत भाषाई तल पर समानान्तर रूप में परिचालित करता है।—लेखक

पाद टिप्पणी—२३

तुलनीय—*फिलिप व्हीलराइट* : **तदेव**, पृष्ठ ६४।

तनावोन्मुख प्रतीक प्रतिबद्ध नहीं होता, क्योंकि इसका मुख्य तनाव विभिन्न **प्रकार के साहचर्यों से जीवन ग्रहण करता है जोकि बहुत सूक्ष्म रूप में और अधिक-**

तर अवचेतन रूप में परस्पर सम्बद्ध रहते हैं और जिनसे कि प्रस्तुत प्रतीक या पूर्ववर्ती का कोई सदृश प्रतीक भाषा के अतीत में भी जुड़ा रहा है, जिसके कारण उस प्रतीक के साथ अर्थ-ऊर्जा और साभिप्रायता की शक्ति संचित हो गयी है और कुशलता से उस शक्ति को इसीलिए काम में लाया जा सकता है, प्रतिबद्धता के अभाव का अर्थ जरूरी नहीं, काव्यात्मक-चयन का अभाव भी वहाँ मान लिया जाय।

The tensive symbol cannot be entirely stipulative, in as much as its essential tension draws life from a multiplicity of associations, subtly and for the most part subconciously interrelated, with which the symbol in the past, so that there is a stored up potential of semantic energy and significance which the symbol, when adroitly used, can tap. Absence of stipulation need not mean, however, absence of poetic choice.

पाद टिप्पणी—२४

जोसेफीन माइल्स : **दि कन्टिन्यूटी आफ पोयटिक लैंग्वेज**, पृष्ठ १।

To describe the common materials of language through which poets work is to describe at once the limitations and the potentialities of their medium. The language which the makers speak is not amorphous and not by any means susceptible of free improvisation. Its sounds and sentence-structures, and the references and associations of its words, are well set for poets as for everyone else by social situation in time and place, and the poets language is even further set by literary conventions.

पाद टिप्पणी — २५

तुलनीय—*जोसेफीन माइल्स* : **तदेव**, पृष्ठ ४९२।

भाषादृष्टि और कविता तथा गद्य की दृष्टि, जो उस भाषा का प्रयोग कला के माध्यम के रूप में करते हैं, वस्तुतः बाह्यार्थ दृष्टि को ही प्रतिबिम्बित करते हैं।

बाह्यार्थ की तथता और हमारे द्वारा की गयी इसकी व्याख्या विशेष रूप से हमारे युग में बहुत सबलता के साथ उभारी गयी है। प्रतीकवादियों ने भावनाओं तथा विचारों के द्योतक के रूप में वस्तुओं को प्रस्तुत किया और इसलिये वे वाक्य-संरचनाओं में उतना नहीं उलझे, दूसरी ओर अध्यात्मवादी कवि के लिये वाक्य-विन्यास ही तथता की विवृत्ति के लिये एक प्रक्रियारत मन का साकार रूप

बनता है और नव क्लासिक कवि के लिये वस्तु और भावना के बीच समानान्तरीकरण ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

Views of language and of poetry and prose, which employ it as medium for art, reflect views of reality. The thingness of reality and our interpretation of it are particularly strong in our time. The symbolists present things as connatative of feelings and ideas, and are not much interested in syntactic structures, for the metaphysical poet, on the other hand, syntax represents the working mind in its consideration of thingness and meta-thingness; for the neoclassical, the parallels between things and feelings are important.

टिप्पणी—

कुछ कवि आलोचकों के कथन से यह बात स्पष्ट है कि हर युग में किसी-न-किसी रूप में भाषाई सूत्र रचनाकार द्वारा गृहीत सत्य के साक्षात्कार में सहायक होता है। मार्टिन फॉस ने 'सिम्बल ऐण्ड मेटाफर इन ह्यूमन एक्सपीरिएंस' नामक ग्रन्थ (पृष्ठ १२०) में यह ठीक ही प्रतिपादित किया है, 'भाषा की अर्थवत्ता उसके सकेतक शब्द में नहीं, उस शब्द के व्यापार में है और वह शब्द की आत्मा ही है, जिसके कारण यह शब्द अपने आप एक तनाव की स्थिति में पड़ जाते हैं, यही आत्मा उनकी स्थिरता या रूढ़ता को दबा देती है और उनकी प्रतीयमान और सतही एकमात्र पर्याप्तता के आगे भी अर्थ को ले जाती है।' —लेखक

पाद टिप्पणी—२६

फिलिप व्हीलराइट : **सदैव**, पृष्ठ ५७।

Poetic language generally, by reason of its openness, tends towards semantic plentitude rather than towards a cautious semantic economy. The power of speaking by hindirection and by evoking larger, more universal meanings than the same utterance taken in its liberal sense would warrant, is an species of semantic plentitude. But it may also be that the tenor of an image or of a surface stament is not single, the semantic arrow may point in more than one direction.

२

काव्य-भाषा और काव्येतर-भाषा

पाद टिप्पणी—१

भट्टतौत (?) हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत—वस्तुओं के सम्बन्ध में दो प्रकार का चैतन्य दिखायी पड़ता है, एक तो तर्क से सीमित चैतन्य जो कि सामान्य है और जिसमें विकल्प भी सम्भव है। एक दूसरा चैतन्य है, जो विशिष्ट प्रत्यक्ष चैतन्य है और वह प्रतिभाशाली कवियों की भाषा का ही विषय है, जब कि पहला चैतन्य साधारण भाषा का। पहले चैतन्य में मन का अतिक्रमण नहीं होता, दूसरे चैतन्य में मन का एक प्रातिभ साक्षात्कार के द्वारा अतिक्रमण हो जाता है।

उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमन्यसामान्यं यद् विकल्पैकगोचरः॥
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्त्तितः।
अतएवाभिधीयन्ते ध्यामलं बोधयन्त्यलम्॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥

पाद टिप्पणी—२ (क)

तुलनीय—एल० डोलोजेल : **प्राग स्टडीज इन मैथमेटिकल लिंग्विस्टिक्स—**
पृष्ठ ९८।

The main distinction is to be made between two functional languages, communicative and poetic. In the initial formulation, the function of communicative language was described as the tendency towards the expression of the extralingual reality (referent, signific) whereas the poetic function is the tendency to move the sign itself into the centre of attention.

पाद टिप्पणी—२ (ख) नागेश : **काव्यप्रकाश पर उद्योत-टीका** (द्वितीय उल्लास, २० कारिका)

शब्द का परिवर्तन काव्यार्थ-निष्पत्ति की दृष्टि से सह्य नहीं है, अतः व्यापार शब्दमूलक कहा जाता है।

'शब्दस्य पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वाच्च शब्दमूलत्वेन व्यपदेशः।'

पाद टिप्पणी—३

तुलनीय—एडवर्ड स्टेंकीविज : **पोयटिक एण्ड नानपोयेटिक लैंग्वेज** (**पोयटिक्स**, पृष्ठ १५)

कला के बारे में 'अप्रयोजन प्रयोजकता' का कान्ट वाला सूत्र शब्द-व्यापार प्रधान कला को भी अपने में समेट लेता है। काव्यभाषा सन्देश के शब्दों को अन्तर्विन्यस्त करने की प्रयोजकता को ही लेकर सप्रयोजन है, और बाह्य सन्दर्भ की दृष्टि से अप्रयोजन। शब्दराशि के इस अन्तर्मुखीकरण की सोद्देश्यता के कारण सन्देश के शब्द विविधस्तरीय सम्बन्धों में बँध जाते हैं, सन्देश स्वयं एक पुर्नविन्यस्त नव-अर्थगर्भ संरचना बन जाता है।

'The Kantian formula as 'purposiveness without purpose' epitomizes also the existence of verbal art, poetic language is purposiveness in terms of internal organization of the message, and purposelessness in terms of external reference. As a result of the '*interiorization*' *of the orientation towards the verbal* material, the elements of the message enter into multiplex relations, . . . the *message itself* becomes a codified structure.

पाद टिप्पणी—४ (क)

अभिनवगुप्तपाद **तन्त्रालोक**, खण्ड ११, पृष्ठ ६०-६२।

जैसे-जैसे सहजभाव से बाहरी रूप के अतिरिक्त भीतरी अर्थ आता है, वैसे-वैसे चमत्कार और अतिशय होता चला जाता है।

प्रतिभा का प्रस्फुटन करने वाले आदि से अन्त तक के वर्णों में उत्तरोत्तर मग्न होकर पुनः पूर्वपूर्वांश से उन्हें जोड़ते हुए, सतही अर्थ के मुख्य रूप से स्फुरण होने के बावजूद प्रतिभा के द्वारा उनका दूसरा रूपान्तर प्रस्तुत करके ही सिद्ध कवि और वक्ता बन जाते हैं।

यथा यथा वाकृतकं तद्रूपमतिरिच्यते।
तथा तथा चमत्कारतारतम्यं विभाव्यते॥
आद्यमायीयवर्णान्तनिमग्ने चोत्तरोत्तरे।
संकेते पूर्वपूर्वांशमज्जने प्रतिभाभिदः॥
आद्योद्रेकमहत्त्वेपि प्रतिभात्मनि निष्ठिताः।
ध्रुवं कवित्ववक्तृत्वशालितां यान्ति सर्वतः॥

पाद टिप्पणी—५

विद्यानिवास मिश्र : **संस्कृत रेटॉरिक ऐण्ड पोयटिक** (कलकाक १), पृष्ठ ३२।

भाषिक संकेत के ध्वन्यात्मक रूप और बाह्यार्थ सन्दर्भ दोनों ही असद् उपाधि है, भाषिक सद् या यथार्थ तर्कातीत है, भाषा स्वभाव से स्वयंपूर्ण हैं, वह लोक-प्रयोग द्वारा स्वीकृत धर्म है। इस सत् का बोध ऐन्द्रिय प्रतीति या मानस प्रतीति के रूप में भी नहीं होता। इसका प्रत्यायक बाहरी जगत् का अमूर्त रूप स्फोट है। इस सत् का बोध ही प्रतिभा है, जो भाषा के निरन्तर प्रयोग से जन्य अभ्यास से उद्भूत है।

What language refers to and the sound of speech are merely two unreal adjuncts to the linguistic sign. This reality transcends logic, since language is arbitrary, a way of life accepted by the community. Nor is this reality understood as sensory cognition or concept. It is sphota that is ihe linguistic abstraction of the surrounding world. Awareness of this reality, called pratibha or 'shining back' is inherent in the contimuous usage of language and its impression.

पाद टिप्पणी—६

आरतुरो बी० फालिको : **आर्ट एण्ड इग्जिस्टेनशियलिज्म**, पृष्ठ ४७।

जिस क्षण से कला जगत् में बाह्य अर्थ अवतीर्ण होते हैं, उसी क्षण से उनके बीच में एक विशेष प्रकार का अन्तरवलम्बित आत्मालोचन तथा अन्त:सम्बन्ध भी अवतीर्ण हो जाता है। किन्तु इस प्रकार के नये विन्यास में भी जिसमें कि एक-दूसरे के उपादानों की अस्मिता और एकता की रक्षा सम्भव हो सकती है, यह आवश्यक नहीं है कि वे इनके वाह्य जीवनवर्ती व्यापारों से कोई विलगाव अवश्य ही उपस्थित हो। उदाहरण के लिए ताओ कविता में कागभगोड़े का टोप साधारण टोप से बाह्यजगत् की ही तरह एक अधिक सुरक्षित स्थान में रखने से भारी हो सकता है। अन्तर अन्यत्र है, वह इसमें हैं कि भावनाओं और बिम्बों का अन्त:सम्बन्ध यहाँ एक नये प्रत्यय के स्तर पर स्थापित किया जाता है, जहाँ वजन, आकार और वर्षा आदि का प्रश्न का साक्षात् कोई अभिप्राय नहीं रह जाता है। बाह्य जीवन एक कच्चा माल बनकर रह जाता हैं, जो जीवन के आस्वादन के अवशिष्ट अनुभव के रूप में पुन: स्वयंभू भावनाओं और कल्पनाओं में सक्रिय होने के लिए और उन्हे पोषित करने के लिए उपयोजित होता है, मानों प्रारम्भ से ही एक नये प्रत्यय-जगत् मे जीवन का प्रारम्भ हो रहा हो और इस प्रकार के स्तरोन्नयन का प्रयोजन सत्

की विशुद्ध सम्भावना का प्रस्तुतीकरण है। समग्र दृष्टि से विचार करने पर यह अन्तर भाषिक संकेत और संकेत के विन्यास दोनों में अभिव्याप्त दिखता है।

From the moment the elements appear in the world of the art-object, their own peculiar kind of interdependent self-discrimination and inter-relation also appears. But even in this ordering, in which retention of self-identity and unification with the rest is made possible, they do not necessarily reveal any difference from those which function at the base of life. In the taoist poem, a hat borrowed from a scarecrow can really be heavier than an ordinary hat, say, placed in a more protected place. The difference lies in the fact that the inter-relation of feelings and images is now projected on an ideal plane, where questions of real weight, hats, rain considered as such, no longer have any direct relevance. Real life becomes now only a kind of raw material, a residuum of living, which serves to feed and to re-enact spontaneous feeling and imagining as if to begin spontaneous being-self-in-a-world anew and fresh from the start, for the sake only of presenting a certain pure possibility of being. This difference permeates both elements and their orderings, when viewed from the standpoint of the whole which they serve, and in which they effectively function.

पाद टिप्पणी—७

तुलनीय—*हेलीडे और मैकिन्टोश* : **पैटर्नस् आफ लैंग्वेज डि, स्क्रिप्टिव लिंग्वि-स्टिक्स इन लिटरेरी स्टडी, पृष्ठ ५५।**

यदि साहित्य के भाषावैज्ञानिक विश्लेषण का कोई मूल्य या उसकी कोई साभिप्रायता है तो वह विश्लेषण भाषा-सामान्य के सामान्य वर्णन की पृष्ठभूमि मे ही प्रस्तुत किया जाना चाहिये, और उन्हीं सिद्धान्तों, विधियो और वर्गीकरणों को यहाँ भी अपनाना चाहिये, जिनका उपयोग सामान्य भाषा के वर्णन में किया जाता है। किसी भी साहित्यिक अवतरण का अर्थ समग्र भाषा की पृष्ठभूमि में ही ग्रहण किया जा सकता है, समस्त भाषा की पृष्ठभूमि में उसके समस्त प्रयोगों को सामने रखकर ही किया जा सकता है। काव्य-भाषा को बिना इस रूप में ग्रहण किये कि वह एक व्यक्ति के द्वारा उसकी कुछ सम्भावनाओं में एक अद्वितीय सोद्देश्य चयन है, अच्छी तरह से कैसे ग्रहण कर पायेंगे? तब भी प्रायः यही देखने में आता है कि साहित्यिक कृति की भाषा के विषय में विवेचन रचनाकार के भाषा-स्रोतों के वर्णनात्मक विवरण से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

If the linguistic analysis of literature is to be of any value or significance, it must surely operate against the background of a general description of the language, using the same theories, methods and categories. A literary text has meaning against the background of the language as a whole, in all its uses, how can its language be understood except as the selection by the individual writers from the total resources at his disposal ? Yet all too often the observations about the language of a work of literature bear no relation to any descriptive account of the resources ?

पाद टिप्पणी—८

सैमुयल आर० लेविन : **लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर्स इन पोयट्री**, पृष्ठ ५१-५२।

A poem, on the other hand, which is presented to an individual as a message, has built into it such equivalences (coupling) that it assists the individual in re-encoding it uniquely.

पाद टिप्पणी—९

तुलनीय—*हेलिडे और मैकिन्टोश* : **पैटर्नस् आफ लैंग्वेज**, पृष्ठ ८३-८४।

कितना भी यह ऊपर से नगण्य क्यों न लगे, किन्तु केन्द्रीय महत्त्व की बात यहाँ यह है कि यदि किसी को एक दिये गये सन्दर्भ में ठीक-ठीक कोई बात कहनी है तो वह एक अधिसंख्य सम्भावनाओं की राशि में से ('सम्भावना' इस अर्थ में कि इनमें से कोई भी समग्र भाषा की दृष्टि से अनियमित नहीं घोषित की जा सकती, वे कहीं-न-कहीं सदृश सन्दर्भ में मान्य हैं, भले ही वे वर्तमान सन्दर्भ में कितनी ही अनुपयुक्त क्यों न लगें) कुछ गिनी हुई उक्तियों या उक्ति-कड़ियों में से ही चुनाव करने की प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से पड़ जाता है।

A matter of central importance here, however trivial it may seem, is this; that if someone is to say things which are to fit into a given situation, he is involved in the selection of one of a quite a small number of utterances, or sequences of utterances, out of a very large number of possibilities—possibilities in the sense that more of these others would be branded as failing to comply with the rules of the language as a whole, they would all be acceptable *somewhere*, no matter to what degree they might be unsuitable in this situation.

पाद टिप्पणी—१०

तुलनीय—*एड्वर्ड स्टैंकीविज* : **पोयटिक एण्ड नानपोयटिक लैंग्वेज** (पोयटिक्स, पृष्ठ १४-१५)

भाषाई संकेत-ग्रहण-पद्धति एक अन्तर्गठित संरचना है, जिसमें एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के कारण अस्तित्व रखता है और एक-दूसरे को ये तत्त्व परिभाषित करते हैं, पर दैनन्दिन भाषा का संदेश केवल बाह्य जगत् के बारे में सूचना प्रेषित करने में विनियोजित होता है, यह मात्र स्थूल अर्थ में अनुभव का सम्प्रेषण करता है। इस प्रकार काव्येतर-भाषा में सूचना का सम्प्रेषण, सूचना के क्रम का निर्धारण और सूचना का चयन बाह्य घटकों से नियन्त्रित है। जब बल बाह्य सूचना से स्वयं सन्देश के अन्तर्गठन पर चला जाता है तो सन्देश बाह्य सन्दर्भ से अपना तनाव ढीला कर देता है और एक स्वयं पूर्णात्मक मूल्य प्राप्त कर लेता है।

While the linguistic code is an internally organized structure in which the terms 'exist by virtue of each other' and define each other, the message of everyday language transmits merely information about the outside world'; it conveys experience (in the broadest sense of the word). The transmission of information the order and selection of information, is in nonpoetic language (i e. in its messages) determined externally. When the emphasis is shifted from external information to the organization of the message itself, the message loosens its relation to the reference and acquires an autotelic value.

पाद टिप्पणी—११

तुलनीय—*आनन्द कुमार स्वामी* : **ओरिजिन एण्ड यूज़ आफ इमेजेज़ इन इंडिया** (दि ट्रांसफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट, पृष्ठ १६७-६८)

जब चैतन्य नाम में आहित हो जाता है और केवल नाम का ही ध्यान कर पाता है तो नाम में आहित होने के कारण रूपात्मक प्रत्यक्ष तिरोहित हो जाता है और केवल उसका अमूर्त सन्दर्भ बच रहता है; तब साधक रूपातीत जगत् में पहुँच जाता है और अधिक अभ्यास करने हर अन्तरायों से मुक्ति प्राप्त करके वास्तविकता के साक्षात्कार में कुशल हो जाता है। यहाँ दूसरे शब्दों में यथार्थ और आदर्श की तुलना की गई है, यथार्थ आदर्श का विरोधी नहीं पूरक है, वह केवल आनन्द का साधक है, जब कि आदर्श पूर्णतर चैतन्य का।

When the consciousness is brought to rest in form ('nama', 'name', 'idea') and sees only the form, then, in as much as it rests in the form, aspectual perception is dispensed with and only the reference remains, one reaches the word—without as

pectual perception and with further practice attains to liberation from all hindrances becoming adept. Here, in another language than our own, are contrasted ideal and realistic art, the one a means to the attainment of fuller consciousness, the other merely a means to pleasure.

पाद टिप्पणी—१२ (क)

तुलनीय—मम्मट : **काव्यप्रकाश**, तृतीय उल्लास, का० २१-२२।

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव च॥

सामान्य शब्दार्थ और काव्यार्थ के निरन्तर अभ्यास से विशिष्ट संस्कार रूपी प्रतिभा वाले लोक जो वक्ता, सम्बोध्य, काकु, दूसरे वाक्य या वाच्य की सन्निधि, प्रसंग, देश और काल आदि के सहारे कही गयी बात के समग्र सन्दर्भों की विशेषता को ध्यान में रखते हुए सतही अर्थ से अलग एक गहरे अर्थ की प्रतीति कर लेते हैं, वह व्यंजना-व्यापार हा है।

पाद टिप्पणी—१२ (ख)

जार्ज ए कार्वर : **एस्थेटिक्स एण्ड दि प्राब्लम्स आफ मीनिङ्**, पृष्ठ ६८।

काव्य में सन्दर्भ का दबाव एक ऐसे महत्त्व का विषय है कि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

In poetry the pressure of context is a factor which cannot be ignored.

पाद टिप्पणी—१३

देखिए—*एल० डोलोजेल* : **स्टैटिस्टिकल थ्योरी आफ पोयटिक लैंग्वेज (प्राग स्टडीज इन मैथमेटिकल लिंग्विस्टिक्स** खण्ड २, पृष्ठ १०१)

मैं काव्य अवतरण के सांख्यिकीय विश्लेषण के एक दूसरे तरीके की रूपरेखा प्रस्तुत करना चाहूँगा, ऐसा रास्ता जो भाषा-रीति के विविध लक्षणों के और ज्यादा विभिन्न प्रकार के सांख्यिकीय विशेषताओं का सन्निवेश और परीक्षण करे। फिलहाल मैं दो अतिरिक्त विशेषताओं के अध्ययन का सुझाव दूँगा।

मूल ग्रन्थ मे संक्षिप्त अनुवाद दिया गया है।

I would like, therefore, to outline in another way towards a statistical descr ption of poetic text, viz. the way of introducing

and examining a greater number of different statistical properties of stylistic characteristics. For the time being I suggest to study two additional properties :

1. Homogeneity—nonhomogeneity with regard to text sets established by the criterion of appurtenant to an author (speaker). A stylistic characterestic will be called homogeneous, if it is statistically stable in text sets belonging to different speakers. A characterestic will be called non-homogeneous, if its values show significant fluctuation in text sets of different speakers.

2. Stationarity—non-stationarity with regard to different segments of the text. A characterestic will be called stationary if it is statisfically stable in the time course of the text, i. e., if it presents the same values in different segments (portions) of the text; it has to satisfy the condition of stationarity as defined in the theory of stochastic (random) series. The characterestic is non-stationary if it does not satisfy the mentioned conditions, i. e., if it is variable in different segments of the text. The examination of stationarity initiates the study of an almost untouched, but very promising field of statistical stylistics, i. e., the study of texts as tame series.

पाद टिप्पणी—१४

रोमन याकोब्सन : **लिंग्विस्टिक्स एण्ड पोयटिक्स (स्टाइल इन लैंग्वेज,** पृष्ठ ३५८)

काव्य-व्यापार चयन की धुरी रेखा से भाषा के दो तत्त्वों के जोड़ बिठाने के सिद्धान्त का संश्लेष्ट की धुरी पर प्रतिक्षिप्त करना है। काव्य में उसी कड़ी का एक अक्षर उसी कडी के दूसरे अक्षर से समीकृत होता है, एक बलाघात दूसरे बलाघात से उसी प्रकार, एक बलाघातहीन शब्द दूसरे बलाघातहीन शब्द से, छन्द की दीर्घ मात्रा लघुमात्रा से, लघु लघु से, शब्द का सीमान्त दूसरे शब्द के सीमान्त से या शून्य सीमान्त से और वाक्य-विराम अ-विराम से समीकृत होता है।

The poetic function projects the principle of equivalence from the axis of selection into the axis of combination. Equivalence is promoted to the constitutive device of the sequence. In poetry one syllable is equalised with any other syllable of the same sequence, word-stress is assumed to equal word-stress as unstressed equals unstressed; prosodic long is matched with long

and short with short; word-boundary equals word-boundary, no boundary syntaxtic pause equals no pause.

पाद टिप्पणी—१५

गुँठर मूलर : **मार्फालाजिकल पोयटिक्स** (पत्रव्यवहार में प्राप्त)।

पाद टिप्पणी—१६

तुलनीय—मैकहैमण्ड : **पोयटिक्स सिन्टैक्स** (**पोयटिक्स**, पृष्ठ ४८२)।

वाक्य-विन्यास तभी काव्यात्मक कहा जाता है जब कि एक सम्बद्ध उक्ति-खण्ड के व्याकरणिक दृष्टि से समान घटक संयोजन या परावर्त्तन के द्वारा एक दूसरे के सम्मुख लाये जायें या फिर संलक्ष्य रूप में एक के ऊपर एक राशि के रूप में प्रस्तुत किये जाये।

Syntax is poetic, when grammatical equivalent constituents in connected speech are juxtaposed by coordination or parataxis, or are otherwise prominently accumulated.

पाद टिप्पणी—१७

मार्शल मैक्लूहन : **दि गुटेनबर्ग गैलेक्सी**, पृष्ठ ३१।

नये विद्युत-तन्त्रीय अंतरवलम्बिता ने विश्व को एक बड़े गाँव के रूप में नव-सर्जित कर दिया है।

The new electronic interdependence recreates the world in the image of a global village.

३

सादृश्य-विधान

पाद टिप्पणी—१ (क)

तुलनीय—*आनन्दकुमार स्वामी* : **'दि ट्रांसफारमेशन आफ नेचर इन आर्ट'**, पृष्ठ २३।

सादृश्य प्रायः इस माने में गलत समझा गया है कि प्रायः उसे दो आभासित प्रतीतियों से सम्बद्ध माना जाता है, एक तो कलाकृति की आभासित प्रतीति, दूसरे उसके प्रतिमान की। वस्तुतः सादृश्य कलाकृति में निहित स्वयंपूर्ण उसकी निजी विशेषता है और यह कलाकृति के ही मानसिक और ऐन्द्रिय घटकों की संवादिता है। यह संवादिता ठीक उसी प्रकार की है जिस प्रकार की संवादिता हम नाटक में नट और अनुकार्य में पाते हैं, पर विशेष बात सादृश्य के सम्बन्ध में यह है कि उपमान और कलागत उपमेय दोनों की स्वतंत्र सत्ता है और दोनों के निर्धारक कारण स्वतंत्र हैं, अपने अपने हित के लिए हैं और दोनों ही बाह्य दृष्टि से तुलनीय नहीं है, केवल टाइप के रूप में सदृश है।

Sadrishya, 'visual correspondence', has nevertheless been commonly ministerpreted as having to do with two appearances, that of the work of art and that of the model. It refers, actully, to a quality wholly self-contained within the work of art itself, a correspondence of mental and sensational factor in the work. The correspondence is indeed analogous to the correspondence of person and substance in the thing to be 'imitated'; but the object and the work of art are independently determined, each to its own good, any physically incommensurable, being the same only as to type.

पाद टिप्पणी—१ (ख)

फिलिप ह्वीलराइट : **मेटाफर एण्ड रियलिटी**, पृष्ठ ८३।

तो सादृश्य गुणों के संग्रन्थन के रूप में आकल्पित विविधता से जुड़ी हुई वास्तविकता का शाब्दिक संगुम्फन है।

सादृश्य निजता का प्रख्यापन है, ऐसा प्रख्यापन जिसके द्वारा वास्तविक गुणो का संश्लेष एक निजत्व धारण कर लेता है।

सादृश्य-विधान इस प्रकार की शब्द रचना है जिसके द्वारा अपने स्वरूप के बल पर यह किसी वस्तु की सत्ता को प्रमाणित करता है। यहाँ स्वरूप से हमारा तात्पर्य ऐसे परस्पर सम्बद्ध गुणों की व्यवस्था से है जिसमें अपने घटक तत्त्वों को एक समरस समग्र इकाई में परिणत कर दिया गया है, यह समग्र इकाई ही सादृश्य-विधान का विषय है।

यह सोचना कि सादृश्य-विधान केवल एक प्रकार के होने की स्थिति या भिन्न प्रकार के होने की स्थिति को सूचित करता है, शायद इस तथ्य को ग़लत समझने के कारण होता है कि सादृश्य विधान हमेशा अपनी विषयभूत सत्ता के गुणों की विविधता की ओर संकेत करता है, पर ऐसा सोचने वाले यह भूल जाते हैं कि विविधता का आन्तरिक अर्थ गुणों का भेद उतना नहीं है जितना कि गुणों की बहुरूपता और गुणों के अपरिमित सूक्ष्म ब्यौरों की वह सर्वव्यापकता है, जो हमेशा सादृश्य-विधान के माध्यम से संश्लेष के लिए सुलभ हों।

A metphor is then,—a formulation in word of the reality implicated in a variety, that is conceived as a complex of qualities.

(A metaphor) is assertion of an individuality; the assertion by which a complex of real qualities becomes an individual or asserts itself as real.

(A metaphor) is a word-structure that, by virtue of its form, asserts the reality of an object. Form is here, as elsewhere, a system of mutually interrelating qualities which has affected a unity of its elements into a harmonious whole. This whole is the object which metaphor asserts.

The idea that metaphor expresses a likeness or a difference is perhaps a confused perception of the fact that metaphor always implies a variety of qualities in the reality it contemplates, but it appears to overlook the fact that the essential meaning of vanity is not difference of quality, so much as multiplicity of qualities and the omnipresence of unlimited details of quality that are available synthesis.

पाद टिप्पणी—२

तुलनीय—फिलिप व्हीलराइट : **तदेव,** पृष्ठ ३६-४०

एक नियत समग्र कभी भी समग्र नहीं होता सत्य के लिए आदमी की ...

कभी भी सार्वजनिक सहमति या निर्बाध परिच्छिन्नता से पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं हो सकती। आदमी के भीतर ज्ञान की अधिकतर पूर्णता के लिए बराबर एक इच्छा है एक तड़पन है ऐसे अंश के लिए, जो पूर्वप्रयुक्त या निश्चित रूप में परिभाषित शब्दों से परे हैं। इसीलिए भाषा के किसी भी बँधी एक या अनेक व्यवस्थाओ मे कितनी भी व्यापक और मौलिक वे क्यों न हों, यह आकांक्षा बराबर बनी रहेगी कि खुली भाषा के स्रोतों की नई खोज की जाय और उनका विकास किया जाय, जब तक कि मानव कल्पना जीवन्त है।

A definite whole is never the whole. Man's itch for truth can not be entirely satisfied either by public agreement or by secure precision. There is also in man a desire, and it is more enobling one for greater fullness of knowledge, a yearning of the mind inwards what lies beyond the reach of word as already used or as prescriptively defined. For this reason, however extensively and ingeniously, closed system or systems of language may be contrived, there will always be a need, so long as human imagination remains alive, to explore and develop the resources of open language.

पाद टिप्पणी—३

देखिए—*फ़िलिप ह्वीलराइट* : **तदेव**, पृष्ठ ५२-५३।

तनाव और परिप्रेक्ष्यात्मक निर्जता के जुड़वाँ पहलू समस्त काव्य-गुणों में प्रथम और सबसे सीधे-साधे गुण की मौलिक वास्तविकता की अभिव्यक्ति की उपलब्धि के लिए सबसे सीधे स्तर पर व्यापारशील होते हैं - ऐलेन वाट से इसी मौलिक वास्तविकता को वस्तुओं की **तथता** कहा है। अतः जिस रूप में वस्तुएँ देखी जाएँ, उस रूप में उन वस्तुओं का वास्तविक दर्शन, यह मौलिक तथता शब्दों के द्वारा बहुत कठिनाई से व्यक्त होती है, यह कठिनाई लगभग उसी प्रकार की होती है, जैसे कि एक चित्रकार के सामने, जिसके डिब्बे में थोड़े से रंग हो, वह जिस रूप मे प्रकृति को देख रहा हो, उसी रूप में चित्रित करना चाहता हो।

The twin aspects of tension and perspectival individuality operate at the simplest level in the achievement of that first and plainest of all poetic virtues—the expression of radical actuality what Allan Watts has called'the suchness of things, bears precise character as actually observed Radical suchness s hard to represent in words, the difficulty might be likened to that of a

पाद टिप्पणी—४—तदेव, पृष्ठ ५३ ।

गेरार्ड हापकिन्स द्वारा उद्धृत अंश

Moonlight hanging or dropping on tree tops like cobwebs.

पाद टिप्पणी—५

तुलनीय—*फिलिप ह्वीलराइट* : तदेव, पृष्ठ ५४ ।

जीवित भाषा का तनावयुक्त स्वरूप किसी क्षण-विशेष में कवि के द्वारा देखने और कहने के लिए किसी निजी परिप्रेक्ष्य के चयन से कुछ अतिरिक्त माना जाना चाहिए। भाषा जीवित हो तो कम-से-कम इस प्रकार की अपर्याप्तता तो रहेगी ही।

The tensive character of living language may be something more than the poet's choosing an individual perspective from which, at the moment to look and to speak. There is always that much at least, when language is alive.

पाद टिप्पणी—६

तुलनीय—*फिलिप ह्वीलराइट* : तदेव, पृष्ठ ५४ ।

ध्यान केन्द्रित करने के लिए केन्द्रीभूत विशेष, जिस पर पूरी दृष्टि का प्रकाश पड़ रहा है और ध्यान से छूटे हुए गुणों, अर्थों और परिदृश्यों का धुँधला-सा आँख की कोर से झलकाया जाता हुआ सामान्य प्रभाव, इन दोनों के बीच कितना भी कोमल क्यों न हो, एक तनाव तो रहता ही है।

There is always some tension, however delicate, between the bright center of particularty that is singled out for attention and the dim tail-of-the-eye impression of qualities and meanings and perspectives that was left out.

पाद टिप्पणी—७

तुलनीय—*मार्टिन फॉस* : सिम्बल ऐण्ड मेटाफ़र इन ह्यूमन एक्सपीरियेंस, पृष्ठ १८-१६।

प्रस्थापनात्मक प्रक्रिया के गत्यात्मक व्यापार में स्थितिशील प्रतीकवाद का कोई उपयोग नहीं है, स्थितिशील प्रतीक एक प्रकार से भाषा और सामान्य बुद्धि द्वारा स्वीकृत बीच के रास्ते का एक बचाव है, प्रतीक के आग्रह के कारण प्रस्थापना का उद्देश्य जो भाषा में अन्विति लाता है कुछ निश्चित पदों में से एक में अवरुद्ध हो जाता है, एक प्रकार से प्रतीक की प्रस्थापना में मुख्य उद्देश्य बन जाता है इस प्रकार यह प्रतीक अपना अर्थवाही और अग्रगामी स्वरूप खो देता है और

एक स्थिर अमूर्त्तीकृत सत्ता में एक विधेयात्मक पद में अपने को विलीन कर देता है, वह अंशी न रहकर उसके प्रतिनिधिरूप अंश के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

Static symbolism has no use for the dynamic function of the propositional process. It has found a recluse in a compromise with language and common sense have sanctioned; the subjectum of the proposition, the unifying function has been closed into one of the fixed terms, has been made a subject in the proposition. As such it has lost its carrying and forward-driving character and has become a static, symbolically deduced entry a predicative term, a part which merely represents the whole.

पाद टिप्पणी—८

तुलनीय—*मार्टिन फॉस* . **तदेव,** पृष्ठ १२०।

भाषा की आत्मा शब्द में न रहकर उसके व्यापार में बसती है, और इसलिए (जीती-जागती) भाषा के शब्द तनाव की स्थिति में आने के लिए लाचार है, यह तनाव ही जड़ता पर काबू पाता है और शब्दों की प्रतीकात्मक और केवल सतही अपर्याप्तता के परे एक अर्थ देता है। यह व्यापार ही सादृश्य-विधान है, सादृश्य का काम ही है शब्द के कड़ेपन को अपकर्ष को, और परिसीमन को ध्वस्त करना।

The sprit of language is in the process, not in the word, and just because of that the words must enter into a tension which overcomes the fixation and provides a meaning beyond their symbolic and any apparent sufficiency. The process therefore, metahhorical and the metaphor has the task of destroying the rigid riduction and limitation of the word.

पाद टिप्पणी—९

तुलनीय—*मार्टिन फॉस* : **तदेव,** पृष्ठ ११६।

भाषा जितनी ही पुरानी होती जाती है, उतना ही भाषा का प्रवाह चुकता जाता है, सादृश्य-विधान की प्रक्रिया भी बद्ध हो जाती है और उसके ऊपर तत्काल शब्द-बोध के लिए अपनाये गये यान्त्रिक साधनों के रूप में शब्दों का एक ढाँचा खड़ा हो जाता है, जैसे कि वह जमाये गये इमारती पत्थरों का ढाँचा हो। हर भाषा पुरानी होने पर निश्चित रूप से पारिभाषिक शब्दों की ऐसी संरचना में अपने को विकसित कर लेती है कि कोई भी अपने विचार को सम्प्रेषित करने के लिए उन शब्दों को (यान्त्रिक रूप में) जोड़ सकता है।

The more a language grows old, the more the flux of speech is lost, the metaphorical process stagnates and is supplanted by a scaffold of fixed building stones of words as a technical means for the purpose of expedient understanding Every language, grown old, will to a high degree, develop into a system of exactly defined words with a dictionary meaning, so that anybody can put them together in order to make himself understood.

पाद टिप्पणी —१०

तुलनीय—*मार्टिन फॉस* : **तदेव,** पृष्ठ ६०।

प्रतीकों को तोड़ते समय और उनके रूढ़िगत अर्थ को खण्ड करते समय अनुसंधित्सु प्रयतमान और अन्तर्दर्शी मन का व्यापार सक्रिय हो जाता है और सत्य को उसका पूर्ववत् प्रमुख महत्त्व प्राप्त करा देता है। अरस्तू ने जब सादृश्य-विधान की शक्ति की बात कही है तो उनके ध्यान में यही व्यापार था।

In blasting the symbols and shattering the customary meaning the dynamic process of searching, striving, penetrating mind takes the lead and restores the truth of its predominant importance. It is what Aristotle aims at when he calls the metaphor energy.

पाद टिप्पणी— ११

तुलनीय—*मार्टिन फॉस* : **तदेव,** पृष्ठ ६१।

सत्य की यह ठीक पहचान थी कि यह माना गया कि सादृश-प्रतीति का जगत् परिमाण, बहुत्व और सहवर्त्तित्व से परे है। विकल्पों की अनेकता का अतिक्रमण करके सादृश्य-विधान की भूमि अखण्डनीय और सीधी एकता के साक्षात्कार करा देती है।

It was the right understanding of the truth that the metaphorical realm is a realm beyond quantity, multitude, and togetherness. The metaphorical sphere transcends the many and realises a simple and indivisible unity.

पाद टिप्पणी—१२

देखिए—राइडर *क्रिश्चियनसेन* : **मिथ, मेटाफर एण्ड सिमिली** (मिथ—ए सिम्पोजियम, सम्पा० टी० ए० सिबेओक, पृष्ठ ६८)।

चाहे आदिम मानव ने नयी वस्तुओं से परिचित होने के लिए केवल सादृश्य-विधान का प्रयोग शुरू किया हो या चाहे कल्पित भयों से बचने के उपाय के रूप

से भय के संभावित कारणों का स्पष्ट उल्लेख करने के लिए, इतना स्पष्ट है कि शब्दों के लिए यह आँखमिचौनी उसके जीवन में एक निश्चित उद्देश्य रखती थी। इसलिए मिथक और सादृश्य-विधान के बीच सम्बन्ध की सम्भावना नया आयाम ग्रहण करती है।

Whether, then, at some early stage man started using metaphors and similes just to familiarise himself with new things, just to avoid arousing imagined dangers by mentioning by name potential carriers of such, this strange evasive playing with words has a function in his life. Accordingly, the possible connection between myth and methaphor acquires a new aspect.

पाद टिप्पणी—१३

देखिए—*आनन्दकुमार स्वामी* : **दि ट्रांसफार्मेशन आफ् नेचर इन आर्ट,** पृष्ठ १०-११।

It will appear presently that we should errequally in supposing that Asiatic art represents an 'ideal' word, a word, 'idealized' in the popular (sentimental, religious) sense of the word, that is perfected to remolded nearer to the heart, desire, which were it so might be described as a blasphemy against the artness of perfect experience, and a cynical depreciation of life itself. We shall find that Asiatic art is ideal in the mathematical sense : Give nature (natura naturans) not in appearance (viz. that of ens naturata) but in operation.

पाद टिप्पणी—१४

देखिए—*येर्ज़ी पेल्क* : **एनेलिसिस आफ् दि कांसेप्ट आफ् मेटाफ़र (पोयटिक्स,** पृष्ठ ३३५)।

इससे यह स्पष्ट है कि सफेद तितलियों की बात ऊपर के उदाहरण में अर्थ की दृष्टि से किसी दुविधा का संकेत या दूसरे शब्दों में सादृश्य की पारदर्शी उभयकोटिता का संकेत नहीं करती, क्योंकि ऊपर वाले वाक्य के वक्ता की विवक्षा 'सफेद तितलियों' के केवल शाब्दिक अर्थ की प्रतीति में ही सम्मिलित है। और यह विवक्षा—जो एक मनोवैज्ञानिक हेतु है, क्योंकि वह उक्ति की रचना और / या उसकी व्याख्या की मानस प्रक्रिया से सम्बद्ध है—एक वक्त निरपेक्ष कारण बन जाती है, जब इसे तथाकथित पूर्वसिद्ध संकेत का ग्रहण कराना होता है और तब यह अर्थ-व्यापार का स्वरूप धारण कर लेती है।

(लेखकीय टिप्पणी—वह विवक्षा वक्ता की तब न रहकर भाषा की हो जाती है।)

All this shows that the expression 'white butterflies' in the example under discussion does not reveal semantic oscillations i.e. the transparence of metaphor, since in the intention of the author of the sentence quoted above that expression has been used in its—to put it colloquially—literal meaning. And that that intention, i.e., a psychological factor, as such connecteed with the process of formation and/or interpretation of expressions, becomes an objective factor when it comes to the so-called ready-made sign and takes on the form of its semantic functions.

४

काव्य-भाषा का गठन और साभिप्राय विचलन

पाद टिप्पणी—१

एल डोलोजेल : **स्टैस्टिकल थ्योरी ऑफ़ पोयटिक लैंग्वेज** (प्राग स्टडीज़ इन मैथमेटिकल लिग्विस्टिक्स—२, पृष्ठ ९९ में उद्धृत)

काव्य-भाषा का लक्षण ही है यन्त्रबद्धता और पेशबन्दी के बीच में निरन्तर तनाव बना रहना। मुकारोव्स्की के अनुसार कोई भी काव्य अवतरण एक ऐसी गतिशील संरचना होता है जिसमें कुछ उपादान यन्त्रबद्ध लगते हैं और कुछ पेशबन्दी पर आधारित। वस्तुत: प्रत्येक खण्ड समग्र अर्थ से सम्बद्ध होकर ही अपना मूल्य रखता है। मुकारोव्स्की को इसी को दूसरे शब्दों में निरन्तर नवीकृत किये जाते हुए प्रमाण और अप्रमाण रूप रागबोधक तत्त्वों के शाश्वत संश्लेष के रूप मे काव्य-भाषा का वर्णन किया है।

Poetic language is characterized by a constant tension between automatization and foregrounding. According to Mukarovsky, a poetic text is a dynamic structure consisting both of automatized and foregrounded elements, 'each element acquires its value only in its relationship to the whole.' Using another terminology, Mukarovsky, speaks about a 'continuous' renewed and perpetual synthesis of the normalized esthetic elements.

पाद टिप्पणी—२—तदेव

Mukarovsky' cites the poverty of symbolism as an example of vigorously foregrounded structure. whereas neoclassicism is given as an example of a strongly automatiing (normative) movement.

पाद टिप्पणी—३

मैक हेमेन्ड : **पोयटिक सिन्टैक्स** (पोयटिक्स, पृष्ठ ४८६) देखिये पाद टिप्पणी १६, अध्याय-२ ।

पाद टिप्पणी—४

योसेफ् वाचेक : **दि लिंग्विस्टिक स्कूल श्राफ् प्राग,** पृष्ठ १०० ।

मुकारोव्स्की ने स्वयं पेशबन्दी की परिभाषा इस प्रकार की कि यह भाषा के उपादान-तत्वों का इस प्रकार का आवर्तन है कि जिससे सर्जनात्मक उद्देश्य पूरा होता हो।

Mukarovsky himself used to define foregrounding as an aesthetically intended deformation of the components of language. (Garvin replaces the French term 'deformation' by 'distortion'.)

५

उपसंहार

पाद टिप्पणी—१

जोसेफ़ीन माइल्स : **दि कंटीन्युटी आफ़ दि पोयटिक लैंग्वेज,** पृष्ठ ५२३।

It has undertaken by one narrow and concentrated line of observation to trace a relationship between the general nature of language and the specific nature of poetic language : poetry's sorts of formal selection from the social emphases of language and the continuity of the relation.

परिशिष्ट : २

काव्य-व्याख्या

१. प्रलय की छाया

प्रलय की छाया कविता संध्या के चित्र से प्रारम्भ होती है और इसी में कविता का अन्त होता है। इस संध्या के कई रूप सामने लाये जाते हैं, प्रारम्भ में ही शीर्षक के रूप में धूसर क्षितिज की संध्या का उल्लेख है। इसके बाद रागमयी संध्या आती है जिसमें रूपगर्विता कमलावती के मदिर रूप का सम्पूर्ण वैभव रंजित है और इस संध्या की परिसमाप्ति अन्तरिक्ष की अरुणिमा को पीने वाले दिगन्तव्यापी सगीत में होती है। पुनः इस संध्या के साथ आने वाली श्यामा सृष्टि युवती वाली अनुराग की संध्या है। इसके बाद पद्मिनी की आहुति की भयावह संध्या है, फिर वह विभव विलासिनी संध्या है, जिसमें कमलावती सुल्तान को अपने रूप में बाँधना चाहती है और स्वयं सुवर्ण पिंजरे में बँध जाती है; फिर एक उदास संध्या आती है, जब उसका शैशव अनुचर मानिक आता है, पर मानिक का प्रबोधन व्यर्थ चला जाता है और भारतेश्वरी का पद लेने की लालसा एक अपमान की सध्या में बदल जाती है—

जब कृष्णागुरु वर्तिका
जल चुकी स्वर्णपात्र के ही अभिमान में
एक धूमरेखा मात्र थी।

की तरह सारा अहंकार जलकर धूमिल हो जाता है। इसके बाद एक रक्तमयी संध्या आती है, जब मानिक अपने स्वामी का प्रतिशोध लेता है और दिल्ली का राजमुकुट गिर जाता है और इस संध्या का पर्यवसान एक गहरी ग्लानि की संध्या में होता है जब—

ले चली बहाती हुई अन्ध के अतल मे
वेगभरी वासना
अन्तक शरभ के
काले-काले पंख ढकते हैं अन्धतम से
पुण्य ज्योतिहीन कलुपित सौन्दर्य का
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा-सा।

और कमलावती के रूपवैभव की रागाकुलता प्रलय की छाया में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार संध्या इस कविता की संरचना में केन्द्रभूत अभिप्राय के रूप में प्रस्तुत की गयी है, जिसके माध्यम से उसके अरुणिम और तिमिराच्छन्न दोनों पक्षों का ठीक-ठीक प्रतिबिम्बन कराया जा सके। एक तरह से संध्या के रंगों की विविधता का विनियोग कविता की रंगीन रूमानियत और गहरे विषाद को एक बिन्दु पर लाने के लिए किया गया है, इसीलिए बल संध्या के दूसरे पक्ष पर अधिक है, जोकि प्रलय की छाया का भयावह अन्धकार एकदम सामने प्रस्तुत कर देता है और जिसमें सभी रंगीनियाँ डूब जाती हैं। इसीलिए पहली दो पंक्तियों में उस छाया का नाम न लेते हुए भी रंगीनी के अभाव का आभास दे दिया गया है—

थके हुए दिन के निराशाभरे जीवन की
संध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज में।

इन पंक्तियों में 'धूसर' शब्द के प्रयोग से रंगों की धूमिलता का आभास कराया गया है और एकदम नाटकीय ढंग से इसके प्रतिलोम रूप का चित्र उपस्थित किया गया है—

और उस दिन तो
निर्जन जलधि-वेला रागमयी संध्या से
सीखती थी सौरभ से भरी रंगरलियाँ।

इस संध्या के समग्र रूप से ऐन्द्रियता का बोध रंग, गन्ध, स्पर्श, रस और इन सबको अपने में समेटने वाली मादकता के विभिन्न चित्रों द्वारा कराया गया है। इस संध्या के वर्णन का प्रारम्भ वंशीरव से होता है और अन्त संध्या-संगीत में होता है, जिससे इस पूरी संध्या की गूंज पूरी कविता के संदर्भ में अधिकाधिक तीखी हो सके। यहाँ उल्लेखनीय है कि इस संध्या के वर्णन के लिए मुख्य रूप से उत्प्रेक्षा का विधान किया गया है। उत्प्रेक्षा के विनियोग की सार्थकता यह है कि इस संध्या मे रूप से आत्मसंमोहन का भाव तो है और उस आत्मसंमोहन में अपने को कल्पना मे खो देने का भी भाव है, किन्तु अभी न तो यथार्थ का अनुभव है, और न प्रीति की पहचान, इसीलिए उत्प्रेक्षा के द्वारा एक अद्वितीय राग-जगत् की सृष्टि करायी गयी है, जिससे कठोर यथार्थ की पहचान होने पर यह सृष्टि एक अद्वितीय रूप की विफलता की करुण पृष्ठभूमि बन सके।

जिस तरह अनन्त विस्तारवाली प्रकृति एक छोटे से दायरे की ओर आत्मसमोहन के कारण खिंची दिखायी गयी है, उसी तरह जब कहानी का करुण अन्त होता है, वही अबाध विस्तार वाली प्रकृति रूप के मोह को लील जाने वाली सर्वग्रासिनी प्रलय की छाया के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है। इसलिए निर्जन जलधि-वेला की रंगरलियाँ सीखने से एक ऐसा संकेत मिलता है कि जो तटस्थ है, जो शून्य है जो असीम है और जो गहन है- वह भी किसी एक क्षण रागाकुल हो सकता है

या जो रागाकुल अभी नहीं हुआ है, वह व्यक्तित्व अपने राग में उस असीम शून्य और तटस्थ विस्तार को भी आकुल देखने की आत्मवंचना का शिकार हो सकता है। कदाचित् इसीलिए कमलावती की स्मृति में उसके बाद समुद्र के भीतर से, दूर से आनेवाला वंशी-रव गूँजता है यह जतलाने के लिए कि समुद्र के अन्तस् का केन्द्र छोटी-छोटी बातों में गूँजने वाले वंशी-रव के माध्यम से कमलावती की ओर हाथ बढा रहा है, इसके बाद उत्प्रेक्षाओं की कड़ी शुरू होती है। पहली उत्प्रेक्षा है—

> मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
> रन्ध्र खोजतीं थीं रजनी की नीली किरणें
> उसे उकसाने को हँसाने को।

यह उल्लेखनीय है कि अभी साक्षात् रूप में कमलावती नहीं आयी है, आया है कमलावती के यौवन का मालती मुकुल, जो इतना नीरन्ध्र है कि रजनी की नीली किरणों को भी रन्ध्र खोजने की आवश्यकता प्रतीत होती है। और वे किरणें उस मुकुल में गुदगुदी पैदा करने के लिए उसे गुदगुदाकर विकसित करने के लिए ही रन्ध्र खोजती हैं, अवकाश ढूँढ़ती है कि इस अन्तर्गठित सौन्दर्य का उद्‌भेद किया जा सके। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि चाहे जलधि-वेला हो, चाहे धीवरों की नावें हों, चाहे रजनी की नीली किरणें हों, इन सब में एक आकर्षण है तो विनाश की नीलिमा का किसी-न-किसी रूप में पूर्वाभास भी, इसीलिए इनका सम्पुञ्जित प्रभाव यह होता है कि—

> पागल हुई मैं अपनी ही मृदुगन्ध से
> कस्तूरी मृग जैसी।

यहीं पर कमलावती के 'मैं' का अवतरण पहली बार कविता में सीधे होता है। कस्तूरी मृग अपनी गन्ध के कारण ही भटकाव का शिकार होता है और भटकाव का शिकार होने पर आखेट का शिकार भी। यहाँ पर 'मैं' 'अपनी मृदुगन्ध से पागल होता है, उसके पीछे पृष्ठभूमि है निर्जन जलधि-वेला, वंशीरव और गुदगुदाने वाली नीली किरणों की। इसीलिए इन दोनों पंक्तियों मे उत्प्रेक्षा नहीं है, केवल उपमा है, क्योंकि पहले आने वाली और बाद में आने वाली पंक्तियों में कल्पना की प्रधानता है, किन्तु इन दोनों के बीच में आने वाली पंक्तियों में रूपगर्विता कलावती के विनाशोन्मुख कस्तूरी मृग से समीकरण का ज्ञान बहुत ही यथार्थ है, इसके बाद पुनः उत्प्रेक्षा की कड़ियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं और शब्द, रूप, गन्ध से नीचे उतर कर रस और स्पर्श के ऐन्द्रियबोध जाग उठते हैं—

> पश्चिम जलधि में
> मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
> लहरें उठती थीं मानो चूमने को मुझको
> और साँस लेता था समीर मुझे छू कर।

इन दोनों पंक्तियों में भी उपमा-गर्भ उत्प्रेक्षा के द्वारा एक ओर लहरों को अलकों की अपेक्षा कम प्रसिद्ध प्रमाण रूप में स्वीकार करते हुए गर्व को अतिशय व्यंजित किया गया है, दूसरी ओर लहरों के उठने के पीछे चूमने की आकांक्षा की उत्प्रेक्षा के द्वारा अनन्त महासागर के हृदय में उद्वेलन पैदा करने वाली रसास्वाद की आकाक्षा व्यक्त की गयी है, रस का सागर होते हुए भी समुद्र कितना विरस है कि वह इस छोटे से व्यक्तित्व में केन्द्रित रस के लिए लालायित है, इसी प्रकार समीर जो (दूसरो को भली-भाँति प्रेरित करने वाला हो) कमलावती को छूने के लिए ऐसा आकुल हो जाता है कि छूकर ही वह साँस लेता है अर्थात् बिना छुए उसे चैन नहीं मिलती, दूसरों को चलाने वाला भी और जड़ को हिलाने वाला भी समीर जब रूपसी के स्पर्श को पाने के लिए विचलित हो जाय तो उस कल्पना से बढ़कर रूप-गर्व की और कौन कल्पना हो सकती है !

रूप के इस आत्मोन्मुख गर्व के परिणामस्वरूप एक विभाजनरेखा आती है जब बालसुलभ चपलता अचानक दूर हो जाती है और यौवन का अलस भाव एकाएक भारी हो उठता है, इसीलिए अगली चार पंक्तियाँ –

नृत्यशीला शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड़कर दूर जा खड़ी हो हँसने लगीं :
मेरे तो
चरण हुए थे विजड़ित मधु-भार से।

आमने-सामने दो चित्र उपस्थित करती हैं। पहला है—नृत्यशीला शैशव की स्फूर्तियों का और दूसरा है मेरे चरण का। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि स्फूर्तियाँ ही बालिका के रूप में दूर छिटककर हँसने वाले चेतन-कर्त्ता के रूप में अंकित की जाती हैं और उनके जोड़ में प्रत्याशित रूप से आने वाला यौवन का अलस गम्भीर भाव न आकर चरण आते हैं। यह इसलिए कि जिनके चरण नहीं है, उनको दौडने के लिए पैर देकर और जो दौड़ने वाला पैर था उसको गति की जड़ता देकर आमने-सामने रखने में कारणभूत यौवन का बोध और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है अर्थात् दूसरे शब्दों में बालसुलभ चपलता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने कमलावती अपने को समर्थ नहीं पाती, क्योंकि एकाएक मधु (जिसमें वसन्त, मदिरा, मकरन्द, माधुर्य, इन सभी की प्रतीति कराने की क्षमता है साक्षात् या प्रतीक-विधान द्वारा) के भार से चपलता घोषित करने वाले अवयव विजड़ित हो जाते है। आगेवाली पंक्तियों में इसीलिए जहाँ एक उच्छलता थी वहाँ एक स्थिर सौन्दर्य, बोध की प्रतीति स्थान ले लेती है—

हँसती अनंग-बालिकायें अन्तरिक्ष में
मेरी उस क्रीड़ा के मधु अभिषेक में
नतशिर देख मुझे।

कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अंगलतिका में
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़तीं।
नन्दन की शत-शत दिव्य कुसुम-कुन्तला
अप्सराएँ मानो वे सुगन्ध की पुतलियाँ
आ आकर चूम रहीं अरुण अधर मेरा
जिसमें स्वयं ही मुस्कान खिल पड़ती।
नूपुरों की झनकार घुली-मिली जाती थी
चरण-अलक्तक की लाली से
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्तव्यापी संध्या-संगीत को।

संमोहन की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर आत्मतृप्ति की स्वप्निल अवस्था का आविर्भाव होता है, जिसमें एक ओर तो एक नये वसन्त के अभिषेक में अप्सराओं का उल्लास व्यक्त होता है, दूसरी ओर उस अभिषेक को स्वीकार करने की विनम्र लज्जा, एक ओर समस्त गुजरात की कमनीयता की व्यापकता है, दूसरी ओर एक अंगलतिका; एक ओर सुगन्ध की पुतलियों जैसी अप्सरायें हैं और दूसरी ओर उनके सस्पर्श से बरबस मुसकाने वाला अरुण अधर; एक ओर नूपुरों की झनकार से घुली हुई चरण-अलक्तक की लाली है, दूसरी ओर अन्तरिक्ष की अरुणिमा को पीने वाला दिगन्तव्यापी संध्या-संगीत। इन सभी जोड़ों के द्वारा यह द्योतित कराना लक्ष्य प्रतीत होता है कि विश्व-भर का निखिल सौन्दर्य एक स्थिर केन्द्रबिन्दु से, चाहे दूर से, चाहे पास से, चाहे कल्पना में, चाहे यथार्थ में ही सादृश्य-भाव से जुड़ा हुआ है। अपने सौन्दर्य को इस प्रकार निखिल सृष्टि के गतिशील सौन्दर्य के केन्द्र में पाकर जो अनुभव होता है, वह जितना ही मादक होता है, उतना ही आप्यायित करने वाला भी, चाहे यह अनुभव केवल स्वप्न-सदृश अत्यन्त क्षणभंगुर और अयथार्थ ही क्यों न हो—

कितनी मादकता थी ?
लेने लगी झपकी मैं
सुख रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती;
जिसमें थी आशा
अभिलाषा से भरी थी जो
कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद में
जीवन सुरा की वह पहली ही प्याली थी।

इन सात पंक्तियों में उसी परितृप्ति और स्वप्निल मादकता का वर्णन है। इस पूरे खण्ड को जब हम पूरी संरचना के संदर्भ में देखने की कोशिश करते हैं तो लगता

है, कितना निस्सार था यह गर्व, कितनी अयथार्थ थी सुख की यह कल्पना और पूरी कविता के ऊपर छायी हुई प्रलय की छाया में रंगीनी का नशा एक करुण भावबोध की ही सृष्टि करने लगता है। इस स्वप्न से भी दुःखद स्थिति उस जागरण की है, जब उस रूप को गुर्जर-महीप के प्रेम का सौभाग्य प्राप्त होता है, क्योंकि नशा तो आत्मलीन था और इसीलिए उसका सुख काल्पनिक था, किन्तु रूप का गर्व यथार्थ रूप में सफल होता है जबकि गुर्जर-महीप उसके याचक बनते हैं। उसके पूर्व की सध्या यौवन-बोध जगाकर नशे मे सुला चुकी है, इतने में ही संध्या का एक नव जागरण सौभाग्य की प्राप्ति के रूप में उपस्थित होता है और यह संध्या जिस भोग की मधु-यामिनी के प्रवेश-द्वार के रूप में उपस्थित होती है, उसकी स्मृति और दंश मारने वाली है, इसलिए ही अत्यन्त संक्षेप में तीव्र प्रभाव डालने के लिए इस जागरण का चित्र बहुत सीधी भाषा में अंकित किया गया है—

> आँखें खुलीं;
> देखा मैंने चरणों में लोटती थी
> विश्व की विभव-राशि
> और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी
> वह एक संध्या थी।

इसके अनन्तर उस मधुयामिनी का चित्र आता है, जिसमें रूपगर्विता कमलावती के सौभाग्यगर्विता के रूप मे रूपान्तरित होने का क्रम अंकित किया गया है, जहाँ रूपगर्विता के चित्र में केन्द्र बिन्दु के रूप में कमलावती का रूप-वैभव था, वहाँ सौभाग्यगर्विता के चित्र में सारी प्रकृतिसौन्दर्य को धारा विकीर्ण दिखलायी गयी है, यह इसलिए कि कमलावती के सौभाग्य से सभी एक साथ कृतकृत्य हो उठते है, मानो एक केन्द्र से सौन्दर्य के अखिल आनन्त्य में अनेक केन्द्र बन जाते हैं, ये सभी केन्द्र कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए उस एक केन्द्र की ओर झाँकते हैं—

> श्यामा सृष्टि युवती थी
> तारक-खचित नीलपट-परिधान था
> अखिल अनन्त में
> चमक रहीं थीं लालसा की दीप्त मणियाँ
> ज्योतिमयी हासमयी विकल विलासमयी।
> बहती थी धीरे-धीरे सरिता
> उस मधुयामिनी में
> मदकल मलय पवन ले ले फूलों से
> मधुर मरन्दबिन्दु उसमें मिलाता था!
> चाँदनी के अंचल में
> हरा-भरा पुलिन अलस नींद ले रहा।

सृष्टि के रहस्य-सी परखने को मुझको
तारिकायें झाँकती थी।
शत-शत दलों की
मुद्रित मधुर गन्ध भीनी-भीनी रोम में
बहाती लावण्यधारा।
स्मर-शशि-किरणें,
स्पर्श करतीं थीं इस चन्द्रकान्त मणि को
स्निग्धता निकलती थी जिस मेरे अग पर।
अनुरागपूर्ण था हृदय उपहार में
गुर्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों के,
तिरते थे—
मेरी अँगड़ाइयों की लहरों में
पीते मकरन्द थे—
मेरे इस अधखिले आनन-सरोज का
कितना सोहाग या, कैसा अनुराग था ?
खिली स्वर्ण-मल्लिका की सुरभित वल्लरी-सी
गुर्ज्जर के थाले में मरन्दवर्षा करती मैं

इस अंश में रात का तादात्म्य नयी षोड़शी सृष्टि के साथ, (श्यामा षोड़शी सुन्दरी) के साथ किया गया है और इस रात के नील पट में जड़े हुए तारकों के साथ ज्योति हास और विकल विलास वाली लालसाओं की दीप्ति का तादात्म्य किया गया है। इस रात को और मधुमय बनाने के लिए मलय पवन सक्रिय था। समुद्र का रेतीला तट भी चाँदनी के अञ्चल मे एकाएक हरा-भरा होकर अलसाया सो रहा था। पूरा वर्णन निखिल सृष्टि के सौभाग्य से आप्लावित होने की सूचना देता है। इसके अनन्तर तारिकाओं के माध्यम से लालसा के अनन्तकेन्द्र इस भाव से कमलावती को देख रहे है, जैसे कि इस अद्भुत नये रूप में सृष्टि के आविर्भाव के केन्द्र रूप में कमलावती के सौभाग्य का नया उदय ही है और कमलावती को देखने के लिए सभी आकुल हैं। इस प्रकार पूरी सृष्टि का सौभाग्य, दीप्ति और माधुर्य जिस केन्द्र से विकीर्ण हुए थे, उसी केन्द्र में पुन: आ समाते हैं; इसी को व्यञ्जित करने के लिए सौ-सौ शतदल कमलों की कोश मे छिपी हुई मधुर गन्ध रोम-रोम में मिलकर नयी लावण्यधारा बहाने लगती है और कामरूपी चन्द्रमा की किरणें कमलावतीरूपी चन्द्रकान्त मणि को छूकर रस प्लावित करने लगती हैं, गुर्जर-पति अनुरागपूर्ण हृदय की भेंट लिए पलकों के पावड़े बिछाते हैं और अंगड़ाइयों की लहरो में तिरते हैं। हृदय देकर ही गुर्जरेश दर्शन के अधिकारी बनते हैं और वे शरीर की विविध भंगिमाओं के दर्शन के अनन्तर अधखिले आनन-सरोज के मकरन्द के अधिकारी होते हैं। इस

पूरे चित्र में मकरन्द या मरन्द तीन बार आते हैं, मकरन्द सौन्दर्य के सार का प्रतीक है और उसी के उत्कर्ष पर बल देने के लिए इसकी तीन बार आवृत्ति होती हैं, एक बार अखिल सृष्टि के संदर्भ में, दूसरी बार गुर्जरेश के संदर्भ मे, तीसरी बार पुनः पूरे गुजरात के संदर्भ में, इस पुनरावर्तन के द्वारा कमलावती एक ओर प्रकृति से, दूसरी ओर राजा से और तीसरी ओर अपने प्रदेश से जुड़कर तीनों की प्रीति का केन्द्र दिखलायी जाती है, इस उत्कर्ष बनी विन्दु के बाद एक आकस्मिक मोड़ आता है, कमलावती के कानों तक चित्तौड़ की पद्मिनी के जौहर की गाथा पहुँचती है।

इस मरन्द-वर्षा के बाद एक आकस्मिक मोड़ आता है, जिसमें एकाएक नील मेघ माला-सी नियति-नटी तड़ित-विलास-सी अपनी भौंहें नचाती है। इस परिवर्तन को धूमिल करने के लिए कवि ने दो पंक्तियों के अन्त मे तीन-तीन दीर्घ मात्राएँ एक सातत्य में रखकर एक मोड़ की सूचना दी है और इसके बाद पद्मिनी की आहुति की गाथा एक नयी चुनौती के रूप में आती है। इसके पूर्व गुजरात दिल्ली के अधीन था। कमलावती के मन में अपने राज्य को स्वाधीन करने का और पद्मिनी की प्रतिस्पर्धा में अपने रूप का वीररसोचित उपयोग करने के लिए एक संकल्प आकार लेता है और इस पूरे अश में छः बार आग और जलने से सम्बद्ध शब्द दुहराये गये हैं—

> और परिवर्तन वह
> क्षितिज को आन्दोलित करती हुई
> क्षितिज नील-मेघ-माला-सी
> नियति-नटी थी आई सहसा गगन में
> तड़ित-विलास-सी नचाती भौंहें अपनी !
> पावक सरोवर में अवभृथ-स्नान था
> आत्मसम्मान-यज्ञ की वह पूर्णाहुति
> सुना—जिस दिन पद्मिनी का जल मरना
> सती के पवित्र आत्म-गौरव की पुण्य गाथा
> गूँज उठी भारत के कोने-कोने जिस दिन;
> उन्नत हुआ था भाल
> महिला-महत्त्व का।
> दृप्त मेवाड़ के पवित्र बलिदान का
> अर्जित आलोक
> आँख खोलता था सब की।
> सोचने लगीं थीं कुलवधुएँ, कुमारिकाएँ
> जीवन का अपने भविष्य नये सिरे से
> उसी दिन

बँधने लगी थीं विषमय परतन्त्रता।
देव-मंदिरों की मूक घण्टा-ध्वनि
व्यंग्य करती थी जब दीन संकेत से
जाग उठी जीवन की लाजभरी निद्रा से
मैं भी थी कमला
रूप-रानी गुजरात की
सोचती थी—
पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला—
जिसमें सुल्तान जले।
देखे तो प्रचण्ड-रूप ज्वाला-सी धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध !

इस टुकड़े में पूर्ववर्ती खण्ड की शीतलता और मदिर अलसता आग के आलोक में एकदम तिरोहित हो जाती हैं और रूप के दो नये चित्र सामने आते हैं—एक आहुति-रूप और एक स्वयं ज्वालारूप। पद्मिनी को आहुति-रूप में देखकर अपने को ज्वाला-रूप में देखने का अभिमान कितनी बड़ी करुण विडम्बना का सूचक है, वैसे ऊपर से बात की गयी है, बलिदान के अर्जित आलोक में आँख खुलने की, किन्तु आँख खुलकर भी नहीं खुलती है—यह ज्ञान पूरे घटनाक्रम के बाद होता है; बीच में अपनी कथा में इसी आत्म-ग्लानि के ऊपर टिप्पणी करने के लिए एक खण्ड जोड़ा जाता है—

आह कैसी वह स्पर्द्धा थी ?
स्पर्द्धा थी रूप की
पद्मिनी की बाह्य रूप-रेखा चाहे तुच्छ थी,
मेरे इस साँचे से ढले हुए शरीर के
सन्मुख नगण्य थी।
देखकर मुकुर, पवित्र चित्र पद्मिनी का
तुलना कर उससे,
मैंने समझा था यही।
वह अतिरञ्जित-सी तूलिका चितेरी की
फिर भी कुछ कम थी।
किन्तु था हृदय कहाँ ?
बसा दिव्य
अपनी कमी थी इतरा चली हृदय की
लघुता चली थी माप करने महत्त्व की !

इस खण्ड के पूर्वार्ध में रूप की स्पर्द्धा है, किन्तु जब पूरे सन्दर्भ में हृदय की तुलना करते समय कमलावती को यह ज्ञान होता है कि उसकी सबसे बड़ी कमी दिव्य हृदय का अभाव है। वह मानवीय दुर्बलता से ही आक्रान्त है और इसीलिए उसका सब अभिमान अत्यन्त तुच्छ है—एक तरह से यह कमी का इतराना है। इसके बाद के अंश में एक संक्षिप्त भैरव संगीत है, जिसको पूरे सन्दर्भ में देखा जाय तो उसे अभिनय ही कहना होगा, अभिनय ही की तरह वह अयथार्थ और सारहीन था। लड़ने का यह उत्साह एक क्षणिक उफान मात्र था, क्योंकि यह केवल नारी के त्रिगुणात्मक सन्निपात रूप नयनों के इंगित के कारण हुआ—इसमें भीतर से धधकने वाली आग नहीं थी—

अभिनय आरम्भ हुआ—
अन्हिलवाड़ा में अनल-चक्र घूमा फिर
चिर अनुगत सौन्दर्य के समादर में
गुर्ज्जरेश मेरे उन इंगितों में नाच उठे।
नारी के नयन ! त्रिगुणात्मक ये सन्निपात
किसको प्रमत्त नहीं करते ?
धैर्य किसका ये नहीं हरते ?
वही अस्त्र मेरा था।
एक झटके में आज
गुर्जर स्वतंत्र साँस लेता था सजीव हो।
क्रोध मुलतान का दग्ध करने लगा
दावानल बनकर
हरा-भरा कानन प्रफुल्ल गुजरात का।
बालकों की करुण पुकारें ! और वृद्धों की
आर्तवाणी,
क्रन्दन रमणियों का,
भैरव-संगीत बना, ताण्डव नृत्य-सा
होने लगा गुर्जर में।
अट्टहास करती सजीव उल्लास से
फाँद पड़ी मैं भी उस देश की विपत्ति में।
वही कमला हूँ मैं !
देख चिर सङ्गिनी रणाङ्गण में, रङ्ग में,
मेरे वीर पति आह कितने प्रसन्न थे
बाधा, विघ्न, आपदाएँ,
अपनी ही क्षुद्रता में टलती-बिचलतीं।

हँसते वे देख मुझे
मैं भी स्मित करती।

फिर एक छोटी-सी टिप्पणी है—दुर्भाग्य पर और वह पूरे अभिनय पर एक हरताल फेर देती है—

किन्तु शक्ति कितनी थी उस कृत्रिमता में ?
संबल बचा न जब कुछ भी स्वदेश में
छोड़ना पड़ा ही उसे।
निर्वासित हम दोनों खोजते शरण थे,
किन्तु दुर्भाग्य पीछा करने में आगे था।

सौभाग्य का उत्कर्ष मधुयामिनी में और दुर्भाग्य का उत्कर्ष लू से झुलसाने वाली दुपहरी में। इस दुपहरी में ही गुर्जरेश तलवारों से जूझते हुए लापता हो जाते हैं और कमलावती बन्दिनी हो जाती है। एक बार उसे संकेत मिलता है कि अब भी समय है, पद्मिनी के मार्ग का अनुसरण करो; दुपहरी की चिलचिलाती हुई किरणों में पद्मिनी की प्रतिकृति व्यंग्य-हास करती हुई नजर आती है, पर कमलावती की करुण गाथा की पृष्ठभूमि है पद्मिनी का अनादर। वह केवल रूप के बल पर, जो पद्मिनी नहीं कर पायी—वह कर गुजरना चाहती है; अपने रूप के द्वारा दिल्ली शहर को जलाकर समाप्त कर देने का स्वप्न कितना बड़ा व्यंग्य है कमलावती के जीवन का, इसी को नीचे की पंक्तियों में आबद्ध किया गया है—

वह दुपहरी थी
लू से झुलसानेवाली; प्यास से जलाने वाली।
थके सो रहे थे तरुछाया में हम दोनों
तुर्कों का एक दल आया झञ्झावात-सा।
मेरे गुर्जरेश !
आज किस मुँह से कहूँ ?
सच्चे राजपूत थे,
वह खड्ग-लीला खड़ी देखती रही मैं वहीं
गत-प्रत्यागत में और प्रत्यावर्तन में
दूर वे चले गये,
और हुई बन्दी मैं
वाह री नियति !
उस उज्ज्वल आकाश में
पद्मिनी की प्रतिकृति-सी किरणों में बनकर
व्यङ्ग-हास करती थी।
एक क्षण भ्रम के भुलावे में डालकर

आज भी नचाता वही,
आज सोचती हूँ, जैसे पद्मिनी थी कहती—
"अनुकरण,कर मेरा",
समझ सकी न मैं।
पद्मिनी की भूल जो थी उसे समझाने को
सिंहनी-सी दृप्त मूर्ति धारण कर
सन्मुख सुल्तान के
मारने की, मरने की—अटल प्रतिज्ञा हुई।
उस अभिमान में
मैंने कहा था—छाती ऊँची कर उनसे—
"ले चलो मैं गुर्जर की रानी हूँ, कमला हूँ,"
वाह री! विचित्र मनोवृत्ति मेरी।
कैसा वह तेरा व्यंग्य परिहास-शील था?
उस आपदा में आया ध्यान निज रूप का।
रूप यह—
देखे तो तुरुकपति मेरा भी
यह सौन्दर्य देखे, देखे यह मृत्यु भी
कितनी महान और कितनी अभूतपूर्व!

इसके बाद एक कृष्णा रजनी आती है और रूप की भभक जीवन की कामना के आगे समर्पित हो जाती है और सुल्तान के रंग-महल के स्वर्ण-पींजरे में यह रूप बन्दी हो जाता है। रूप का गर्व खण्डित हो जाता है, उसे वितर्क का एक समाधान देने के लिए जीवन की अलभ्यता का चित्र उपस्थित किया जाता है। सारी प्रकृति जीवन की भिखारी दिखाई पड़ती है और इसी को समर्थन मिलता है दृप्त सुल्तान की अनुनय भरी वाणी से—

देखता हूँ, मरना ही भारत की नारियों का
एक गीत भार है।

और यहीं से अपकर्ष की ढलान शुरू होती है। मारने का उत्साह गया, मरने का उत्साह गया; ग्लानिमय जीवन की लाचारी शुरू हुई, तब भी रूप बना रहा। नीचे दिए गये खण्ड में कई नाटकीय चढ़ाव-उतार है; प्रतिशोध, उपेक्षा, आँधी-से संकल्प, गर्व निरुपायता, जीवन की लालसा, रुदन, मनुहार और विलास में बँधने की विवशता—

वन्दिनी मैं बैठी रही
देखती थी दिल्ली कैसी विभव विलासिनी।
यह ऐश्वर्य की दुलारी, प्यारी क्रूरता की

एक छलना-सी, सजने लगी थी सन्ध्या में।
कृष्णा वह आई फिर रजनी भी
खोलकर ताराओं की बिरल दशन-पंक्ति
अट्टहास करती थी दूर मानो व्योम में।
जो सुन न पड़ा अपने ही कोलाहल में।
कभी सोचती थी प्रतिशोध लेना पति का
कभी निज रूप सुन्दरता की अनुभूति
क्षण भर चाहती जगाना मैं
सुल्तान ही के उस निर्मम हृदय में,
नारी मैं !
कितनी अबला थी और प्रमदा थी रूप की !

साहस उमड़ता था वेग-पूर्ण ओघ-सा
किन्तु हलकी थी मैं,
तृण बह जाता जैसे
वैसे मैं बिचारों ही में तिरती-सी फिरती;
कैसी अवहेलना थी यह मेरी शत्रुता की
इस मेरे रूप की।
आज साक्षात् होगा कितने महीनों पर
लहरी-सदृश उठती-सी गिरती-सी मैं
अद्भुत ! चमत्कार !! दृग निज गरिमा में
एक सौन्दर्यमयी वासना की आँधी-सी
पहुँची समीप सुल्तान के।
तातारी दासियों ने मुझको झुकाना चाहा
मेरे ही घुटनों पर,
किन्तु अविचल रही।
मणि-मेखला में रही कठिन कृपाणी जो
चमकी वह सहसा
मेरे ही वक्ष का, रुधिर पान करने को
किन्तु छिन गयी वह
और निरुपाय मैं तो ऐंठ उठी डोरी-सी
अपमान-ज्वाला में अधीर होके जलती।
अन्त करने का और वहीं मर जाने का
मेरा उत्साह मन्द हो चला

उसी क्षण बचकर मृत्यु महागर्त्त से सोचने लगी थी मैं
"जीवन सौभाग्य है; जीवन अलभ्य है।"
चारों ओर लालसा भिखारिणी-सी माँगती थी—
प्राणों के कण-कण दयनीय स्पृहणीय
अपने विश्लेषण में रो उठे अकिंचन जो—
"जीवन अनन्त है,
इसे छिन्न करने का किसे अधिकार है ?"
जीवन की सीमामयी प्रतिमा
कितनी मधुर है ?
विश्व भर से मैं जिसे छाती में छिपाये रही।
कितनी मधुर भीख माँगते हैं सब ही —
अपना दल-अंचल पसार कर बन-राजी,
माँगती है जीवन का बिन्दु-बिन्दु ओस-सा
क्रन्दन करता-सा जलनिधि भी
माँगता है नित्य मानो जरठ भिखारी-सा
जीवन की धारा मीठी-मीठी सरिताओं से
व्याकुल हो विश्व अंधतम से
भोर में ही माँगता है।
"जीवन की स्वर्णमयी किरणें प्रभा-भरी।
जीवन ही प्यारा है जीवन सौभाग्य है।"
रो उठी मैं रोष भरी बात कहती हुई
"मारकर क्या मुझे मरने न दोगे तुम ?
मानती भी हूँ शक्तिशाली तुम सुल्तान हो
और मैं हूँ बन्दिनी।
राज्य है बचा नहीं,
किन्तु क्या मनुष्यता भी मुझमें रही नहीं,
इतनी मैं रिक्त हूँ !"
क्षोभ से भरा था कंठ फिर चुप हो रही,
शक्ति प्रतिनिधि ही उस दृप्त सुल्तान की
अनुनयभरी वाणी गूँज उठी कान में।
"देखता हूँ मरना ही भारत की नारियों का
एक गीत-भार है।
रानी ! तुम बन्दिनी हो मेरी प्रार्थनाओं में
पद्मिनी को खो दिया है

किन्तु तुमको नहीं !
शासन करोगी इन मेरी क्रूरताओं पर
निज कोमलता से—मानस की माधुरी से !
आज इस तीव्र उत्तेजना की आँधी में
सुन न सकोगी न विचार ही करोगी तुम
ठहरो विश्राम करो।"
अति द्रुत गति से,
कब सुल्तान गये
जान सकी न मैं, और तब से
यह रंगमहल बना सुवर्ण पींजरा।

इस रात के बाद और गहरी काली रात आती है, जिसमें—

यामिनी के गूढ़ अन्धकार में
सहसा जो जाग उठे तारा-से
दुर्बलता को मानती-सी अवलम्ब मैं
खड़ी हुई जीवन की पिच्छिल-सी भूमि पर।

और परिणामवश —

कृष्णागुरु-वर्त्तिका
जल चुकी स्वर्ण-पात्र के ही अभिमान में
एक धूम रेखा-मात्र शेष थी
उस निस्पंद व्योम-मन्दिर के रंग में
क्षीण-गन्ध—निरवलम्ब।"

इस नीचे के खण्ड में दो मोड़ हैं—एक मोड़ में मानिक को बचाने की प्रार्थना करके रानी अधःपात की सीढ़ी-पर-सीढ़ी उतरती-सी चली जाती है और उसके भीतर की निखिल लालसायें और वासनाएँ उसके मन में रूप के द्वारा भारतेश्वरी पद पाने का एक नये विजय-अभिमान की उमंग भरती हैं। और रात की इस कालिमा में केवल अपने ही प्रभाव के उत्कर्ष को देखती हुई कमलावती अपनी रूप-माधुरी का उपहार पा जाने की क्षणिक तृप्ति अनुभव करती है और कमलावती खो जाती है इस विजय के अभिमान में। पिछले उत्कर्ष का समानान्तर अपकर्ष भी उतना ही अतिशायी है, इसको अंकित करने के लिए जहाँ प्रकृति के अनुग्रह के अधीन पहले बताया गया था, वहीं मनुष्य के अनुग्रह के अधीन बताया गया था। जहाँ रूप की स्निग्धता को अपनी ओर आकृष्ट करती थी, वहाँ अब रूप शासन का साधन बन जाता है—

एक दिन, संध्या थी,
मलिन उदास मेरे हृदय पटल-सा

लाल-पीला होता था दिगन्त निज क्षोभ से ।
यमुना प्रशान्त मन्द-मन्द निज धारा में ।
करुण-विषादमयी
बहती थी धरा के तरल अवसाद-सी
निज अपमान की

इसके बाद कविता का अन्तिम खण्ड आता है, जिसमें रूप जीवित अभिशाप के रूप में स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है और एक रक्तमयी संध्या सच्ची स्थिति का बोध कराके सैकड़ों वृश्चिकों के डंक की तीव्रता के साथ पतन की ग्लानि का अनुभव कराती है और कमलावती अपने को 'मैं' के रूप में न पाकर सम्बोधित 'तुम' के रूप में पाती है—जैसे रूप की रानी के पद पर समासीन व्यक्तित्व अपराधी के कटघरे मे खड़ा कर दिया गया हो और अपराधी अपने अपराध के बोल से बार-बार आहत किया जा रहा हो । 'मैं' से 'तुम' में यह परिवर्तन कविता के मूल अभिप्राय को प्रखरतर रूप में प्रस्तुत करने के उद्देश्य से विनियोजित हुआ है । अतीत का सारा अभिमान माया के स्तूप की तरह लुप्त दिखाने के द्वारा रूप के कोरे अभिमान की व्यर्थता का बोध कराना तो है ही, उसके साथ ही एक आवरण के हट जाने पर कठोर यथार्थ का नग्न रूप है, उसके लिए पिशाची की उँगलियाँ शरभ के काले-काले पंख और कालिमा की धारा-सा कलुषित सौन्दर्य का गिरता-नक्षत्र, सब मिल कर उस अभिशप्त रूप को प्रलय की छाया के रूप में प्रमाणित करने के लिए सफल उपमान हैं ।

जितने रंगीन-विस्तार के साथ पूर्व वैभव, रूप का हो, सौभाग्य का हो, या प्रभुत्व का, अंकित हुआ—उतनी ही संक्षिप्त गहनता के साथ अंतिम परिणाम-रूप अन्धकार अंकित हुआ है—

"बेच दिया
विश्व इन्द्रजाल में सत्य कहते हैं जिसे ;
उसी मानवता के आत्म सम्मान को ।"
जीवन में आता है परखने का
जिसे कोई एक क्षण,
लोभ-लालसा या भय, क्रोध, प्रतिशोध के
उग्र कोलाहल में,
जिसकी पुकार सुनाई ही नहीं पड़ती ।
सोचा यह उस दिन,
जिस दिन अधिकार-क्षुब्ध दास ने,
अन्त किया छल से काफ़ूर ने

अलाउद्दीन का, मुमूर्षु सुल्तान का।
आँधी में नृशंसता की रक्त-वर्षा होने लगी—
रूप वाले, शील वाले, प्यार से पले हुए
प्राणी राजवंश के
मारे गये।
वह एक रक्तमयी संध्या थी।
शक्तिशाली होना अहोभाग्य है,
और फिर
बाधा-विघ्न-आपदा के तीव्र प्रतिघात का
सबल-विरोध करने में कैसा सुख है?—
इसका भी अनुभव हुआ था भली भाँति मुझे,
किन्तु वह छलना थी मिथ्या अधिकार की।
जिस दिन सुना अकिञ्चन परिवारी ने;
आजीवन दास ने, रक्त से रंगे हुए;
अपने ही हाथों पहना है राज का मुकुट
अन्त कर दास-राजवंश का,
लेकर प्रचण्ड प्रतिशोध निज स्वामी का
मानिक ने, खुसरू के नाम से
शासन का दण्ड किया ग्रहण सदर्प है।
उसी दिन जान सकी अपनी मैं सच्ची स्थिति,
मैं हूँ किस तल पर?
सैकड़ों ही वृश्चिकों का डंक लगा एक साथ—
मैं जो करने थी आई
उसे किया मानिक ने!
खुसरू ने!!
उद्धत प्रभुत्व का
वात्याचक्र! उठा प्रतिशोध-दावानल में
कह गया अभी-अभी नीच परिवारी वह!
"नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है,
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।
कितने उत्पीड़न थे चूर हो दबे हुए,
अपने अस्तित्व हैं पुकारते,
नश्वर संसार में
ठोस प्रतिहिंसा की प्रतिध्वनि हैं चाहते।"

लूटा था दृप्त अधिकार ने
जितना विभव, रूप, शील और गौरव को
आज वे स्वतंत्र हो बिखरते हैं !
एक माया-स्तूप-सा
हो रहा है लोप इन आँखों के सामने।
देख कमलावती !
ढुलक रही है हिम-बिन्दु-सी
सत्ता-सौन्दर्य के चपल आवरण की।
हँसती है वासना की छलना पिशाची-सी
छिपकर चारों ओर व्रीड़ा की अँगुलियाँ
करती संकेत हैं व्यंग्य उपहास में !
ले चली बहाती हुई अन्ध के अतल में
वेगभरी वासना।
अन्तक शरभ के।
काले-काले पंख ढकते हैं अन्ध तम से।
पुण्य ज्योतिहीन कलुषित सौन्दर्य का—
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा-सी
असफल सृष्टि सोती—
प्रलय की छाया में !

ग्लानि के चित्र को पूर्णता प्रदान करने के लिये ही मानिक का कथानक इसमे सन्निविष्ट किया गया है। मानिक ने दास बनकर और इस्लाम ग्रहण करके भी निरन्तर प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर प्रतिशोध के एक संकल्प से अपने जीवन को संचालित करता हुआ अपने स्वामी का बदला अलाउद्दीन के रक्त से रगा हुआ राजमुकुट पहनकर लिया और उसी कार्य के लिए अभिमानवश रूप का साधन प्रयोग करने का संकल्प लेने वाली कमलावती जीवन की लालसा मे मानवता के आत्म-सम्मान को खो देती है और भारतेश्वरी पद पाकर भी उस दास की जीवन-उपलब्धि के सामने कितनी तुच्छ सिद्ध होती है। पूरी कविता एक विफल अभिमान की करुण गाथा है, इसीलिए इस गाथा को अन्य पुरुष के माध्यम से न कहलाकर उत्तम पुरुष के माध्यम से कवि ने अधिक सजीव और प्रभावशाली बनाया है।

पूरी कविता अधिकतर कवित्त के टुकड़ों से निर्मित है और अधिकतर पक्तियाँ १४-१५ या १६ अक्षरों की हैं, किन्तु जहाँ कहीं झटके के साथ एक नया मोड़ देना अभीष्ट है, वहाँ छोटी पंक्ति का प्रयोग शीर्षक के रूप में किया गया है—

१. और उस दिन तो
२. दूरागत वंशी रव,
३. पश्चिम-जलधि में
४. मेरे तो
५. लाने लगी झपकी मैं
६. आँखें खुलीं
७. अखिल अनन्त में
८. उस मधुयामिनी में
९. और परिवर्तन वह,
१०. उसी दिन
११. मैं भी थी कमला
१२. वही कमला हूँ मैं
१३. वह दुपहरी थी
१४. रूप यह
१५. नारी मैं
१६. जीवन अनन्त है
१७. एक दिन संध्या थी,
१८. सामने था
१९. मैंने कहा—
२०. मृत्यु-दण्ड
२१. उठी एक गर्व-सी
२२. अन्तर्निहित थी
२३. कृष्णागुरु-वर्त्तिका
२४. आज विजयी था रूप
२५. चलता था—
२६. वेंच दिया
२७. और फिर
२८. उद्धत प्रभुत्व का
२९. देख कमलावली
३०. अन्तक शरभ के।

इनके अलावा छोटी पंक्तियों का प्रयोग ऐसे वाक्य-शेष को घोषित करने के लिए है, जहाँ स्मृति तीव्रतर करना लक्षित है, जैसे—

१. 'कस्तूरी मृग जैसी'
२. 'नत-शिर देख मुझे'

३. 'कितनी मादकता थी'
४. 'वह एक संध्या थी'
५. 'तारिकाएँ झाँकती थीं'
६. 'बहाती लावण्य-धारा'
७. 'तिरते थे'
८. 'पीते मकरन्द थे'
९. 'उर्जित आलोक'
१०. 'सोचती थीं'
११. 'स्पर्द्धा थी रूप की'
१२. 'सन्मुख नगण्य थी'
१३. 'फिर भी कुछ कम थी'
१४. 'किन्तु था हृदय कहाँ बता दिव्य ?'
१५. 'आर्त्त वाणी'
१६. 'बाधा-विघ्न-आपदायें'
१७. 'मैं भी स्मित करती'
१८. 'मेरे गुर्ज्जरेश'
१९. 'सच्चे राजपूत थे'
२०. 'दूर वे चले गये'
२१. 'वाह री, नियति !'
२२. 'व्यंग्य-हास करती थी।'
२३. 'अनुकरण कर मेरा'
२४. 'समझ सकी न मैं'
२५. 'वन्दिनी मैं बैठी रही'
२६. 'किन्तु हल्की थी मैं'
२७. 'इस मेरे रूप की'
२८. 'पहुँची समीप सुलतान के'
२९. 'कितनी मधुर है !'
३०. 'इतनी मैं रिक्त हूँ'
३१. 'एक गीतभार है'
३२. 'मेरे सम्वेदनों को'
३३. 'क्षीण-गन्ध निरवलम्ब'
३४. 'प्राणी राजवंश के मारे गये'
३५. 'मैं हूँ किस तल पर'
३६ 'खुसरू ने'

३७. 'वेगभरी वासना'

३८. 'प्रलय की छाया में—'

एक प्रकार से दोनों ही प्रकार के प्रयोग पूरी कविता की रचनात्मक यतियों की सूचना देते हैं। प्रायः प्रत्येक पंक्ति दीर्घ मात्रा में ही अन्त होती है, केवल कुछ या तो शीर्षक पंक्तियाँ बन कर, जैसे—

'दूरागत वंशी रव'
'और वह परिवर्तन वह'
'उसी दिन'
'रूप यह'
'मृत्यु-दण्ड'
'और फिर'

लघु में अन्त होती हैं, अथवा अतिरिक्त बल देने के लिए बीच में लघु में अन्त होने वाली पंक्तियाँ कुछ और आई हैं। इसी प्रकार अधिकतम गण या तो दो लघु एक गुरु या दो गुरु एक लघु से बने हुए है—अर्थात् दो से ज्यादा लघु या दो से ज्यादा गुरु साथ नहीं हैं, किन्तु तीन-तीन दीर्घों का एक साथ प्रयोग प्रायः अन्त में दूरी या व्यापकता या गहराई के प्रभाव को अंकित करने के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसे—

'गूँजता था धीवरों की छोटी-छोटी **नावों से**'
'नूपुरों की झनकार घुली-मिली **जाती थी**'
'चरण अलक्तक की **लाली से**'
'जिसमें **थी आशा**'
'नील-मेघ **माला-सी**'
'लू से झुलसाने वाली प्यास से **जलाने वाली**'
'पद्मिनी की भूल जो थी, उसे **समझाने को**'
'एक छलना सी सजने लगी थी **संध्या में**'
'लहरी-सदृश उठती-सी **गिरती-सी मैं**'
'एक सौन्दर्यमयी वासना की **आँधी-सी**'
'तातारी दासियों ने मुझको **झुकाना चाहा**'
'मणि-मेखला में रही कठिन **कृपाणी जो**'
'अन्त करने का और वहीं मर **जाने का**'
'मेरा उत्साह मन्द **हो चला**'
'उसी क्षण बचकर मृत्यु **महा-गर्त्त से**'
'सोचने **लगी थी मैं**'
'चारों ओर लालसा भिखारिणी सी **माँगती थी**'

'माँगता था नित्य मानो जरठ भिखारी-सा'
'जीवन की धारा मीठी-मीठी सरिताओं से'
'क्षीण से भरा था कण्ठ फिर चुप हो रही'
'आज उत्तेजना का इस तीव्र आँधी में'
'यमुना प्रशान्त-मन्द-मन्द निज धारा में'
'अद्‌भुत कुतूहल और हँसी की कहानी से'
'मरने तो नहीं यहाँ जीवन की आशा में'
'और आकाश को पकड़ने की आशा में'
'सहसा जो जाग उठे तारा-से'

आदि-आदि।

इन सभी पंक्तियों में या तो अन्त में सा-सी, 'में', से, जैसा कोई परसर्ग है या विस्थापित कर्त्ता के रूप में 'मैं' है या सहायक क्रिया के बाद दो दीर्घ मात्राओं वाली क्रिया है। और उदाहरण में इस प्रकार की रचना में चाहे वह परसर्ग में अन्त होने वाली हो या कर्त्ता सहायक-क्रिया में एक नैरन्तर्य में दीर्घता, फैलाव, सातत्य, जैसे देर तक टिकने वाले भावों को द्योतित करने के लिए किया गया है, अन्यथा कविता की सामान्य-संरचना आरोह-अवरोह के क्रम में चलती है, आरोह-अवरोह का यह क्रम कविता की नाटकीयता के समानान्तर है।

यदि शब्द-चयन की दृष्टि से देखा जाय तो लगेगा कि ऐन्द्रिय प्रतीतियों मे सबसे अधिक पुनरावृत्ति रूप की है—जिसके उज्ज्वल और अन्धकारमय दोनो पक्ष अपने प्रखरतम रूप में सामने आते हैं, प्रारम्भ से ही अन्धकार वाले पक्ष की सूक्ष्म सूचना रागमयी संध्या के ऊपर नीले रंग की छाया से दी जाती है। एक प्रकार से रागमयी-संध्या के ऊपर निरन्तर श्यामा, कृष्णा या कालिमा की चित्रपटी का गूढ़ अन्धकार छाया हुआ है और कविता की परिणति रूप के उज्ज्वल पक्ष के कालिमा की धारा में रूपान्तरित होने में है—एक प्रकार से रूप के अभिप्रायों की ऐसी द्विभक्त पुनरावृत्ति ही इस कविता के वैषम्य-विधान को समझने के लिए सबसे अधिक प्रभावकारी माध्यम है, वैषम्य कमलावती और पद्मिनी के बीच, वैषम्य आहुति और जीवन-लोभ के बीच, वैषम्य झूठे अभिमान और गहरे संकल्प के बीच, वैषम्य रानी और दास के बीच, वैषम्य स्वतंत्रता के सच्चे साक्षात्कार और 'विवशता' की दयनीय स्थिति के बीच। इस कविता में कल्पना-प्रवणता का उपयोग भी यथार्थ-बोध की विसम्वादी स्थिति के रूप में किया गया है। वस्तुत कल्पना-प्रवण वर्णन यथार्थ के आलोक की गहरी छायात्मक पृष्ठभूमि का काम करते हैं, इसीलिए यद्यपि अधिकतर रूढ़ सादृश्य-विधान का उपयोग ही इस कविता में किया गया है, पर वर्ण्य-विषय की भावनात्मक पृष्ठभूमि के अनुरूप होने के कारण वह अत्यन्त सजीव रूप में अर्थवान् है बीच-बीच में 'दूरागत वंशीरव'

की तरह के बिम्ब सीधे-सीधे पर अत्यन्त सामान्य से दिखने वाले ध्वन्यात्मक बिम्ब कविता के केन्द्रभूत मर्म की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं—

१. देवमन्दिरों की गूँज घण्टा-ध्वनि,
व्यंग्य करती थी जब दीन संकेत से,
जाग उठी जीवन की लाजभरी निद्रा से,

२. वह दुपहरी थी,
लू से झुलसाने वाली, प्यास से जलाने वाली,
खोलकर ताराओं की विरल दशन-पंक्ति,
अट्टहास करती थी दूर मानो व्योम में,

३. और निरुपाय मैं तो ऐंठ उठी डोरी-सी
हाय रे हृदय ! तूने कौड़ी के मोल बेचा जीवन का मधुकोश

४. बेंच दिया,
विश्व इन्द्रजाल में सत्य कहते हैं जिसे,
उसी मानवता के आत्म-सम्मान को,

५. एक माया स्तूप-सा हो रहा है लोप इन आँखों के सामने

यह उल्लेखनीय है कि पूरी कविता में स्पर्श, रस और गन्ध के चित्र मात्रा में कम हैं, केवल अतिशय ऐन्द्रिकता का बोध कराने के लिए ही इनका उपयोग हुआ है। इस प्रकार 'प्रलय की छाया' पूरी संरचना के आलोक में एक पूर्ण गठित आख्यान-काव्य है जिसके अवयव एक-दूसरे से एक लरजती हुई प्रलय की छाया के माध्यम से आबद्ध हैं।

२. राम की शक्तिपूजा

राम की शक्ति पूजा के संरचनात्मक विश्लेषण में पहले कुछ कठिनाइयों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। **पहली कठिनाई है**, पूरी कविता का लगभग एक-सा छन्दोविधान। इसके कारण कविता के नाटकीय मोड़ों को पकड़ने में थोड़ी-सी कठिनाई होती है। **दूसरी कठिनाई है**—शक्ति की विविध अभिव्यक्तियों के क्रम में संगति ढूंढने की। **तीसरी कठिनाई है**—पूरी कविता की ध्वनिमुखरता के कारण और दो-दो पंक्तियों के तुक के मेल के कारण अर्थ को सूक्ष्मतर पर ग्रहण करने में। छन्दोविधान की शक्ति ऐसी है कि कविता एकदम अभिभूत कर देती है और उत्कर्ष की क्रमिकता के लिए अवकाश कुछ कम रह जाता है। केवल सूक्ष्म-यति भंगिमाएँ नाटकीय मोड़ों का अन्दाज देती हैं—

पहला मोड़ है	'रवि हुआ अस्त'
दूसरा मोड़ है	'लौटे युगदल'
तीसरा मोड़ है	'है अमानिशा'
चौथा मोड़ है	'ऐसे क्षण'
पाँचवाँ मोड़ है	'बैठे मारुति देखते'
छठा मोड़ है	'बोले'
सातवाँ मोड़ है	'बोली माता'
आठवाँ मोड़ है	'राम का विषण्णानन'
नवाँ मोड़ है	'बोले आवेग-रहित'
दसवाँ मोड़ है	'बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए'
ग्यारहवाँ मोड़ है	'देखा, वह रिक्त स्थान'
बारहवाँ मोड़ है	'यह है उपाय'
तेरहवाँ मोड़ है	'देखा राम ने'
अन्तिम मोड़ है	'होगी जय।'

इन सभी मोड़ों पर आगे आने वाले अक्षर-बन्ध से एक भिन्न अक्षर-बन्ध विशेष रूप से दीर्घ मात्राओं की निरन्तरता या ह्रस्व-दीर्घ के आरोह-अवरोह में

व्यतिक्रम कर यह सूचित करने का प्रयत्न किया गया है कि कविता अर्थ की दृष्टि से नया मोड़ ले रही है शक्ति की विविध अभिव्यक्तियों में पहली अभिव्यक्ति है—मोह-रात्रि।

इस मोह-रात्रि के संशय को चीरकर एक दूसरी अभिव्यक्ति आती है—जानकी के प्रथम स्नेह की स्मृति। इस दूसरी अभिव्यक्ति से जब मोह-रात्रि भंग नहीं होती तो राम की भक्ति हनुमान के क्षोभ का आकार ग्रहण करके सामने आती है—इस नये शक्ति-संभार को संवरण करने के लिए महाशक्ति का अंजना के रूप में उदय शक्ति का चौथा प्रस्फुरण है। शक्ति का पाँचवाँ अवतरण जाम्बवान के आह्वान में निहित है—

> हे पुरुषसिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
> आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
> तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर,
> रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त,
> तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त;
> शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
> छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन!

इस आवाहन के अनन्तर महाशक्ति का वह ध्यान—

> देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो वह भूधर
> शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
> पार्वती, कल्पना हैं इसकी मकरन्द-विन्दु;
> गरजता, चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु।

चिन्तामग्न पर्वत के सहसा एक नये रूपान्तर की ओर कविता को मोड़ देता है, जब कि वह पर्वत महाशक्ति में, उस पर्वत का अंधकार उज्ज्वल प्रकाश में निमग्न हो जाता है और उस पर एक श्यामल वितान छा जाता है। उस श्यामल वितान से मकरन्द-विन्दु के रूप में महाशक्ति का वह विराट् रूप जिसके चरणों में सागर सागर न रहकर शक्ति का वाहन बन जाता है, गरजने वाले सागर के आतंक का यह रूपान्तर राम के मन में रावण की छोटी-सी शक्ति से लड़ने के लिये एक विराट् का आकार खड़ा करता है, राम पर्वत से तो एकाकार होते ही हैं, शक्ति के अधिष्ठान बनकर अपने सिंहत्व के नये स्मरण के कारण सागर से भी एकाकार हो जाते हैं और उन्हें दशों दिशायें महाशक्ति के हाथ के रूप में दिखाई पडने लगती हैं, जैसे पूरा विश्व उन्हीं का हाथ बनकर उनके सामने प्रस्तुत हो रहा है।

और अन्त में सिद्धि के ठीक पूर्व एक क्षणिक ग्लानि के बाद माता की स्मृति

के रूप के शक्ति के आयत्त होने का आभास होता है—

"यह है उपाय" कह उठे राम ज्यों मन्द्रित घन—
"कहती थी माता मुझे सदा राजीव-नयन !
दो नील-कमल है शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।"

शक्ति का वास्तविक प्रस्फुरण होता है—

ले अस्त्र वाम कर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन।
जिस क्षण बँध गया बेधने का दृग दृढ़ निश्चय,
काँपा ब्रह्माण्ड।

और संशय का अन्त होता है अपने राजीव-नयन को बाण से भेदकर निकालने के लिए प्रत्यञ्चा पर चढ़े हुए धनुष से और अब जब धनुष की डोर चढ़ती है—तब तक चढ़ी ही रहती है, जब तक रावण के दश शीशों का भेदन नहीं हो जाता।

इस प्रकार शक्ति के वास्तविक उत्कर्ष में संशय, प्रिया की मधुर स्मृति, भक्त की दृढ़ भक्ति, अंजना के द्वारा प्रभुता के उद्बोधन की शक्ति और सेवक की सीमा के प्रबोधन की शक्ति, मन्त्री की मन्त्रशक्ति और माता के वात्सल्य की शक्ति का क्रमिक योगदान—इन सोपानों के द्वारा राम में आत्मविश्वास की वह पराकाष्ठा आती है, जो विश्वव्यापी महाशक्ति को अपने बल पर, अपने सहज साधन के बल पर, अपने सुन्दरतम साधन के बल पर, राजीव-नयन के बल पर विवश कर देती है कि वह कहे—

होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन !

क्योंकि पुरुषोत्तम की नवीनता इन्हीं सोपानों से अपने कोदण्ड-पराक्रम के द्वारा महाशक्ति के आराधन से नवीन पुरुषोत्तम का आविर्भाव होता है, ऐसे पुरुषोत्तम जो सुग्रीव और विभीषण के शरणदाता ही नहीं, लक्ष्मण के अग्रज ही नहीं, हनुमान के स्वामी ही नहीं, जानकी के प्राणेश्वर ही नहीं, कौशल्या के स्नेहभाजन ही नहीं, इन सब भूमिकाओं से ऊपर उठकर लक-लक करते हुए ब्रह्मशर को धनुष मे लगाकर अपनी ही आँख अपने ही हाथ से भेदने का निश्चय करने वाले, अकेले अपने बल पर शक्ति को सिद्ध करने वाले महासाधक बन जाते हैं।

राम की शक्ति-पूजा मर्यादा-पुरुषोत्तम से ऊपर उठे हुए नवीन पुरुषोत्तम की शक्ति-पूजा है। इस राम के निर्माण में दूसरी शक्तियों की भूमिका है, किन्तु सबसे गहरी भूमिका राम के भीतर ही उठी हुई कई भावभूमियों की है।

यह उल्लेखनीय है कि राम के संशय का प्रारम्भ होता है इस चित्र से—

श्लथ धनु-गुण है, कटिबन्ध स्रस्त—तूणीर-धरण,
दृढ़ जय-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार;
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।

और उस नैशान्धकार को फिर से दुहराने की आवश्यकता पड़ती है—

है अमा-निशा; उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे, अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न, केवल जलती मशाल।
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय।...

पर्वत, आकाश, दिशाएँ, सागर मशाल की तरह जलती हुई संशय की शक्ति के आधार हैं। वे ही सत्य की प्रत्यभिज्ञा में नया रूप धारण करती हैं—

देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो वह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना हैं इसकी मकरन्द-बिन्दु;
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;
दशदिक—समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व,
मानव के मन असुर मन्द हो रहा खर्व।

बीच में सागर पहाड़ और दिशाएँ हनुमान की शक्ति के अभ्युदय के लिए आती हैं—

उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल-सागर-अपार,
हो श्वसित पवन उनचास पिता-पक्ष से तुमुल
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़,
जल-राश राशि-जल पर खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध-प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष
दिग्विजय—अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,
शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश भाव,
जल-राशि विपुलमय मिला अनिल से महाराव
वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।

हनुमान की वह शक्ति एक प्रकार से राम के संशय की शक्ति з
रूप प्रत्यभिज्ञा की शक्ति के बीच की कड़ी है जब वे देवी के वा.
के रूप में पहचानते हैं और अनन्त सागर के विक्षोभ को अपने
शक्ति के आधान के लिए तत्पर होते हैं। संशय और निश्चय के इ
साथ दो और शक्तियाँ काम करती हैं—एक है सीता के ध्यान
विश्व-विजय-भावना मन में भर आती है। पर वह भावना
रह जाती है और पुनः एक संकल्प की कल्पना है जो मानवीय
बोध कराती है—

निज सहज रूप में संयत हो जानकी प्राण
बोले—"आया न समझ में यह दैवी विधान;
रावण अधर्मरत भी अपना मैं हुआ अपर—
यह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर शंकर !
करता मैं योजित बार-बार शर-निकर निशित,
हो सकती जिनसे यह संसृति सम्पूर्ण विजित,
जो तेज:पुञ्ज, सृष्टि की रक्षा का विचार
है जिनमें निहित पतनघातक संस्कृति अपार—
शत-शुद्धि-बोध-सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक,
जिनमें है क्षात्र-धर्म का धृत पूर्णाभिषेक
जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित,
वे शर हो गये आज रण में श्रीहत, खण्डित !
देखा—हैं महाशक्ति रावण को लिये अंक,
लाञ्छन को ले नभ में जैसे शशांक नभ में अशक,
हत मन्त्र-पूत शर सम्वृत करतीं बार-बार,
निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र, वार पर वार।
विचलित लख कपिदल क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों-ज्यों
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यो,
पश्चात्, देखने लगीं मुझे, बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं, हुआ त्रस्त

राम अपने को अधर्म से संघर्ष करने वाले मानवीय-पतन-घात
वाहक के रूप में देखते हैं और यह विषाद ही उन्हें और अधिक
है, दृढ़तर आराधना का जिसमें दृढ़ता रावण की हो, पर लक्ष्य
विचार का। शक्ति की जिस मौलिक कल्पना की गई है, वह
टिकी है—'आवेगरहित' और 'विश्वासस्थिति'।

दूसरी शक्ति है—माता के स्नेह भरे संबोधन की स्मृति a

अन्तिम निश्चय के पूर्व की प्रेरक शक्ति है, क्योंकि जब सहस्रार दुर्ग प्रायः पार करने को हुआ और उस समय सबसे कड़ी परीक्षा हुई—एक इन्दीवर दुर्गा ने छिपा लिया और मानव के स्थिर मन की चंचलता एक बार अन्तिम बार के लिए सामने आयी और पुनः जानकी का ध्यान आया—

धिक् जीवन को पाता ही आया है विरोध,
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध !
जानकी ! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका !

इस आकुलता का सदा-संवादी स्वर राम का वह एक मन है, जो न थका। वही मायावरण भेद करके विद्युत् गति से बुद्धि के दुर्ग में पहुँचता है। राग और विवेक का, मन और बुद्धि का, पराभूत भाव और जय के संकल्प का यह संतुलन कविता के उत्कर्ष-बिन्दु पर आकर पूरी तरह चरितार्थ हो जाता है। जानकी के उद्धार की आकुलता बाएँ हाथ में शस्त्र लेती है। कौशल्या के वात्सल्य की स्थिरता दक्षिण कर में दक्षिण लोचन लेती है। दोनों की संहित स्थिति से ही ब्रह्माण्ड काँप जाता है और देवी का त्वरित उदय होता है। इस प्रकार राम की शक्ति-पूजा संशय और निश्चय के द्वैत का अतिक्रमण करने वाली जानकी की चिन्ता और माता के स्नेह से अपनी शक्ति का साक्षात्कार करने वाले 'नवीन पुरुषोत्तम' के अभ्युदय की शक्ति-संकल्पना है।

तीसरी कठिनाई, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, इस कविता की ध्वनि-मुखरता है। इसके कारण सूक्ष्म अर्थ की पकड़ कुछ ढीली पड़ जाती है—पर ध्वनिमुखरता की यही सोद्देश्यता है कि अर्थ बहुत सूक्ष्म संकेतों से ग्रहण किया जाय। इस लय को पकड़ने के लिए कुछ शब्द बहुत ही महत्त्वपूर्ण संकेत हैं—

'विच्छुरित वह्नि राजीव-नयन'
'नमितमुख सान्ध्य-कमल'
चमकतीं दूर ताराएँ'
'जित-सरोज-मुख श्याम देश'
'ज्ञात छवि प्रथम स्वीय'
'ये नहीं चरण राम के, बने श्यामा के शुभ—'
'शत-शुद्धि-बोध-सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक'
'तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर।'
'फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा-ज्योति-हिरण'
'वह षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित गगन'
'प्रति जप से खिंच-खिंच होने लगा महाकर्षण'
'हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध'
'रह गया एक इन्दीवर, मन देखता पार

प्रायः करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार,
द्विपहर रात्रि, साकार हुईं दुर्गा छिपकर,
हँस उठा ले गईं पूजा का प्रिय इन्दीवर ।'

इस कविता में राजीव-नयन एक मूल अभिप्राय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वैसे कमल का प्रयोग सामान्य उपमान के रूप में और इन्दीवर (नीलकमल) का विशेष आनुष्ठानिक साधन के रूप में प्रयोग हुआ है किन्तु राजीव-नयन का प्रयोग केवल प्रारम्भ में और अन्त में हुआ है।

ऐसे कमल-नयन राम जिनकी आँखो से आग की लपटें निकल रही हैं, **'बिच्छुरितवह्नि राजीव-नयन'**, संशय की भूमिका में उतरने की तैयारी कर रहे हैं, इतना सकल्प, इतना पराक्रम, इतना क्रोध और रावण अपराजेय, रतनारी आँखों से लपट निकलने लगती हैं। लपटों का निकलना ही भीतर के सशय की आग का बाहर आना है, क्रोध की वह्नि दुर्बलता का प्रथम आभास देती है। वही नयन पुनः माता के स्निग्ध सम्बोधन से जुड़कर शान्त उज्ज्वल राजीव बन जाता है, वह्नि का रूपातर सूर्य में हो जाता है क्योंकि सूर्य ही विराट् पुरुष की दायी आँख है। संशय से उठी हुई शक्ति ही महान् प्रकाश बन जाती है। 'विच्छुरितवह्नि' की राजीव-नयन के साथ ऊपर से विसगति की यही सोद्देश्यता है कि वह इस कमजोरी की भभक को भी महाशक्ति की सम्भावना के रूप में पहले से ही संकेतित कर दे।

इसके बाद दूसरी चौंकाने वाली पंक्ति है **'नमितमुख सान्ध्य कमल'**, सूर्य औंधा दिया गया है, सन्ध्या के समय आग प्रखर होती है, सूर्य अस्त हो जाता है, सशय की वेला मे प्रकाश भीतर की ओर अन्तर्मुख होकर ध्यान का विषय बन जाता है। जो चीज शान्त नहीं थी, वह शान्त हो गयी, उत्साह की गर्मी शान्त हो गयी। शक्ति का आकलन अन्तर्मुख हो गया है जैसे सन्ध्या का कमल औंधा दिया गया हो, उसकी लीला ऊर्ध्वमुख न होकर अन्तर्मुख हो गयी हो, प्रकाश जो भी थोड़ा बहुत बच रहा है, सन्ध्या के कमल की तरह मुकुलित हो रहा है, मुख नीचे झुका-कर ध्यान में केन्द्रित हो रहा है कि कहीं भीतर से शक्ति आनी चाहिए, बाहर की शक्ति में निशाचर बराबर अधिक पड़ेंगे। इस प्रकार 'नमितमुख सान्ध्यकमल' भीतरी शक्ति के आह्वान, युद्ध के लिए नैतिक बल के संचय, अपने स्वरूप के पहचान के आगे आने वाले प्रसंगों की संश्लिष्ट सूचनाएँ देता है।

'चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार'

खुले हुए जटाजूट को अन्धकार के रूप में, राम के खुले शरीर को दुर्गम पर्वत के रूप में वर्णित करने के अनन्तर यह पंक्ति बेमेल लगती है। इस वाक्य की संगति ढूँढने के लिए कविता की अन्तर देकर आगे आने वाले—

'भूधर ज्यों ध्यान-मग्न केवल जलती मशाल'
'जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय'

'युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु-युगल,
देखा कपि ने, चमके नभ में ज्यों तारा दल',

इन अलग-अलग तीन टुकड़ों तक जाना होगा।

इस अन्धकार में दूर चमकने वाली ताराएँ क्या हैं ? अन्धकार में शिविर में जलती हुई मशाल क्या है ? यह एक ओर स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय है, दूसरी ओर जानकी की पुतलियों में प्रथमदर्शन से तुरीय आनन्द की सिहरन उत्पन्न करने वाली वेला और उसकी स्मृति है और वही अश्रुयुगल के रूप में जब चरणों में पड़ती है तो हनुमान के लिए पुनः तारादल बन जाती है अर्थात् चमकती दूर ताराओं के संकेत से एक साथ संशय का कम्पन, जानकी की प्रथम दृष्टि की सिहरन, ग्लानि के झलकते अश्रुकण और किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए भक्त के हृदय में सक्रिय आकुलता उत्पन्न करने वाली दीप्ति— चारों नाटकीय मोड़ झलक उठते हैं और अन्धकार भी सार्थक हो उठता है। इसी से यह ध्वनित हो जाता है कि ये ताराएँ स्वयं राजीव-नयन आँख में न केवल बाहर की बल्कि भीतर की आँख की दिपती हुई पुतलियों का बिम्ब प्रस्तुत करती हैं।

जित सरोज मुख श्याम देश—दूसरा कमलपरक सादृश्य-विधान है, जो ऊपर से कुछ विसंगत लगता है। एक ओर जब मुख 'जित सरोज' है अर्थात् कमल की शोभा से बढ़-चढ़ कर है, तब वह श्याम देश कैसे कहा जायगा ? और ठीक इसके ऊपर पाद-पद्म का स्मरण क्यों ? यह ऊपर से संगत नहीं लगता कि चरणों को उपमेय बनाकर पुनः मुख को व्यतिरेक अलंकार के द्वारा उपमेय बनाया जाय, फिर उसे श्याम देश कहकर सँवरा दिया जाय, पर इस श्याम देश का सम्बन्ध नमित-मुख-सान्ध्य-कमल से है, आगे आने वाली अमानिशा से है, पहले आने वाले नैशान्धकार से है। पादपद्म सार्थकता रखता है इसलिए कि वह निर्मल जल से धो दिया गया है और भक्त के लिए चरणों की दीप्तिमयी लाली सबसे बड़ा आश्वासन है और इसी कारण इन चरणों के प्रान्त पर स्थित भक्त जब 'जित-सरोज-मुख-श्याम-देश' देखते हैं तो उनकी आकुलता और विशेष हो जाती है और सतही विसंगति से नया अर्थ द्योतित होता है, जो इस मुख की श्याम देशता है, वह क्षणिक है; जित-सरोज-मुख ही शाश्वत है।

'ज्ञात छवि प्रथम स्वीय'

संशय के क्षण में जो वाटिका-प्रसंग की स्मृति उद्बोधित की गयी है यह संगत ही है क्योंकि जिस जानकी के उद्धार के लिए रावण से समर हो रहा है, उसके प्रथम प्रणय की चर्चा में सबसे अधिक उद्दीपकता होगी। यह भी सार्थक है कि जानकी का विशेषण पृथ्वी-तनया-कुमारिका छवि से दिया गया है। अन्धकार से घबराए व्यक्ति के लिए पृथ्वी की तनया की कुमारी छवि का स्मरण-शक्ति के ठोस आधार की तलाश का आकलन है। उस प्रसंग में भी सबसे अधिक बिम्ब

आँखों की भाषा के विनिमय, सिहरते हुए होंठों को व्यक्त करने के लिए काँपते हुए किसलय, स्पर्श में मलय-चन्दन-तरु का आभास, श्वास में पराग का समुदय और मधुर वाणी में नये जीवन का, आकाशचारी विहंग का संगीत समग्र रूप में ज्योति के झरने का अवतार, ये सारी बातें तो समझ में आती हैं, किन्तु गर्भित अर्थ के रूप में—ज्ञात-छवि-प्रथम-स्वीय, यह वाक्य के प्रवाह को रोक देता है। यह प्रथम स्वीय ज्ञात छवि क्या है ? जानकी की पुतलियों में राम के रूप की पहली छवि की तुरीय आनन्द देने वाली सिहरन है या राम के द्वारा अपने रूप की पहली पहचान, अपनी सार्थकता का पहला बोध है या शंकर का धनुष भंग करने के लिए उस प्रथम दर्शन से प्राप्त राम की भीतरी शक्ति का पहला जागरण है। पर जो भी हो, वह शक्ति की नयी प्रत्यभिज्ञा के लिए इस प्रथम स्वीय ज्ञात छवि का स्मरण बहुत सार्थक है। यह सही है कि कैशोर उत्साह अधिक है, परिपक्वता नहीं है, पर संशय को और अधिक तीव्र करने के लिए क्षणिक उद्भास बहुत अधिक अपरिहार्य था, क्योंकि इसी का प्रत्यावर्त्तन आगे आने वाली पंक्तियों में—

'खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन'

सीता के राममय नयन ही 'ज्ञात-छवि प्रथम स्वीय' है। उन नयनों में खिंच जाने से ही राम के नयन भावित हो जाते हैं—

'भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्तादल'

ये मुक्ता दल ही राम के अविकल कमल-लोचन रूप को कुछ व्याकुल-व्याकुल कर देने वाले हैं और उससे भी अधिक उद्वेलित करने वाले हैं हनुमान के अपार शक्ति-सागर को। इस प्रकार 'ज्ञात छवि प्रथम स्वीय' अपने ही भीतर नहीं, अपने भक्तों के भीतर शक्ति के उन्मीलन का सूत्र बन जाती है और यह शिव को विवश कर देती है कि वे शक्ति से प्रार्थना करें कि वे इस उन्मीलन का आवेश सँभालें, क्योंकि यह उन्मीलन राम के आत्मसाक्षात्कार की भूमिका तो बन सकता है, पर साधक नहीं बन सकता। इसके ऊपर प्रहार भी नहीं किया जा सकता, पर इसका संवरण न करने पर राम के सेवक का धर्म नष्ट होता है। राम के सेवक को अधिकार नहीं है उस महाकाश के ग्रसने का, जिसमें राम के पूज्य शिव का निर्मल वास है।

ये नहीं चरण राम के बने श्यामा के शुभ,
सोहते मध्य में हीरक-युग या दो कौस्तुभ;

ये दो पंक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध नहीं दिखती हैं। श्यामा और श्याम का प्रयोग पूरी कविता में तीन बार हुआ है। एक बार 'जित-सरोज-मुख-श्याम देश' में, दूसरी बार यहाँ, तीसरी बार 'रावण-महिमा श्यामा विभावरी अन्धकार' पंक्ति में। किन्तु यहाँ विशेषता यह है कि श्यामा के साथ शुभ भी है, जबकि रावण-महिमा श्यामा विभावरी होकर भी अन्धकार में परिणत होती है। राम के चरणों

का श्यामा के चरणों में रूपान्तर का बोध 'रावण महिमा श्यामा' को दबाने के लिए, कवि के मन में महानाश की शक्ति का संकल्प जगाने के लिए है। राम के चरणों पर गिरे हुए आँसू शक्ति के उज्ज्वल हीरक-मय या मणिमय शृंगार हैं, अर्थात् वे मुकुट के बोधक हैं, वे हृदय में रहने वाले कौस्तुभ मणि के बोधक हैं क्योंकि वे प्रभु के आँसू हैं और वे एक बड़े प्रेमी की व्यथा को दीपित करने वाले आँसू हैं। कपि जो प्रभु के ध्यान में मग्न था, राम के अश्रुविन्दुओं से ऐसा विचलित हो जाता है कि वह प्रभु-चरणों की शान्ति का आश्रय छोड़कर श्यामा के पराक्रम का आश्रय एक क्षण में ले लेता है। राम के आँसू एक शुभ संकेत हैं। राम की व्यथा का यह उन्मीलन विश्व की प्राण-शक्ति को उद्वेलित करने के लिए है।

परन्तु कवि अन्ततः श्यामा का उपासक नहीं, राम का उपासक है और इसलिए वे माता की आज्ञा स्वीकार करके नम्र होकर धीरे-धीरे 'प्रभु पद गह' दीन हो जाते हैं और विषाद की श्यामा फिर गहरी हो जाती है और इस श्यामा का पूरा साक्षात्कार करने के लिए राम मानव नियति की व्यथा को आत्मसात् करते हैं कि 'रावण अधर्मरत भी अपना मैं हुआ अपर', इस प्रकार राम के पद श्यामा के पद बनने में इस कविता की नाटकीयता परिलक्षित होती है।

'शत-शुद्धि-बोध—सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक'

यह वाक्य भी एक गर्भित वाक्य है, 'पतन घातक संस्कृति' का एक अतिरिक्त विशेषण है। यह संस्कृत पतन-घातक होते हुए भी, संयम से रक्षित होते हुए भी निष्फल हो जाती है और इस निष्फलता के पीछे कारण है 'शत शुद्धि बोध सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक' का कारण होना। उद्दाम अविवेक को सूक्ष्म विवेक नहीं रोक पाता, क्योंकि विवेक के ठहराव उसे नृशंस नहीं होने देते। इसीलिए जाम्बवान् राम को यह चुनौती देते हैं कि तुम पुरुषसिंह हो और विवेक से अधिक तुम प्राण शक्ति का आवाहन करो, तभी तुम्हारी भीतर की दुर्बलता घटेगी। शुद्ध होते हुए भी तुम जब तक स्थूल शक्ति का अपने भीतर संचारण नहीं करोगे, तब तक अशुद्ध पर त्रस्त करने वाले रावण को कैसे ध्वंस कर सकोगे।

शक्ति की जिस मौलिक कल्पना की बात जाम्बवान् ने की है, वह मौलिक कल्पना राम की अपनी दायीं आँख (जिसे वेदों में सूर्य के साथ एकाकार बतलाया गया है) अपने ही सन्धित बाण से निकालकर सुमन के रूप में अर्पित करने के संकल्प के रूप में परिणत होती है। अपने ही अस्त्र से अपनी ही आँख निकालने का नृशंस निश्चय आसुरी शक्ति का प्रतिकार करने में समर्थ हो सकता है। अन्तर इतना ही है कि यह नृशंसता अपनी ओर लक्षित किये हुए है, रावण की नृशंसता दूसरे की ओर। अतः 'शत-शुद्धिबोध सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक' क्षेपक नहीं है। वह इस आत्मोत्सर्ग की क्षमता में शक्ति के सन्धान की भूमिका है, पुरुषोत्तम होने के लिए प्रतिशोध भाव की क्षुद्रता से मुक्त होना आवश्यक है, उसके लिए अपने

में ही शक्ति की आराधना का साधन पा लेना भी उतना ही आवश्यक है, अपने लिए यह शक्ति-पूजा नहीं, रावण के वध के लिए भी यह शक्ति-पूजा नही, यह शक्ति-पूजा राम बनने के लिए है, इसलिए विवेक की यह भूमिका जो विमर्श के प्रथम विन्दु के रूप में लक्षित होती है, पूरी कविता के सन्दर्भ में सार्थक भूमिका है।

'तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर'

इसके पूर्व की दो पंक्तियाँ हैं—

हे पुरुष सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर।

पुरुषसिंह विरुद का प्रयोग राम के सन्दर्भ में कविता में पहली बार आता है। यह सम्भवतः इसलिए कि आसुरी शक्ति के मर्दन के लिए शक्ति का वाहन सिंह ही हो सकता है, तभी रावण की आराधना का उत्तर उसी प्रकार की महाप्राण आराधना से किन्तु अधिक दृढ़ संकल्प के साथ साधना करते हुए दिया जा सकता है। राम और रावण के समर का अपराजेय होने का कारण रावण की असुरता अर्थात् प्राण शक्ति है—और यही रावण के विजित होने का रहस्य भी। प्राण-शक्ति में सयम का योग है। यही शक्ति की मौलिक कल्पना है, जिसकी ओर आगे की पंक्तियों में संकेत है। दूसरे शब्दों में, अपने भीतर पूर्णविश्वास पैदा करते हुए, अपने को उत्सर्ग करके, अधर्म के ध्वंस की शक्ति प्राप्त करना ही राम की अभिनव साधना है। निराला ने एक पौराणिक कथानक में नयी साभिप्रायता भरी है। पौराणिक कथानक के अनुसार विष्णु ने शिव की अर्चना के लिए एक सहस्र कमल चढ़ाने का व्रत लिया और पार्वती ने परीक्षा के लिए जब एक कमल उसमें से छिपा लिया तो विष्णु ने अपनी दायीं आँख कमल के स्थान पर चढ़ा दी। शिव ने प्रसन्न होकर उनकी दायीं आँख को ठीक करके कमल की आकृति दे दी। इसी से उनका दूसरा नाम पड़ा पुण्डरीकाक्ष।

यहाँ पर राम पहले से ही पुण्डरीकाक्ष हैं। इसलिए उन्हें माँ के दिये हुए विशेषण में पहले से ही प्राप्त वरदान का स्मरण होता है और वे उस कमल को निकालने के लिए उद्यत हो जाते हैं। पर दुर्गा निकालने के लिए बढ़ा उनका हाथ थाम लेती हैं, क्योंकि निकालने का संकल्प ही शक्ति का अवतार है। उस निकालने के संकल्प के साथ ही राम का श्लथ धनुगुण तन जाता है। तूणीर ब्रह्मशर लकलक करता हुआ निकल आता है और धनुष में उसका सन्धान हो जाता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पुराने आख्यान में शिव ने पूजा ले ली थी। किन्तु निराला ने शक्ति को संकल्प से ही विगलित कर दिया, क्योंकि शक्ति से भी एक भूल हुई है। उन्होंने रावण को अंक में लिया है

'लाछन को ले जैसे शशांक नभ में अशंक'

उसका परिमार्जन तभी हो सकता था जब वे राम का हाथ थाम कठोर एवं अत्यन्त नृशंस आत्मदान से संकल्प के क्षण में ही विरत कर उनकी जय घोषित कर देतीं और स्वयं उनके वदन में, जित सरोज वदन में लीन हो जातीं। शक्ति का यह प्रसाद सयत प्राणों से सम्भव था। अपनी आँख अपने ही बाण से निकालने के लिए केवल प्राणशक्ति अपेक्षित थी। पर माता के आशीर्वाद में विश्वास प्राप्त करके कि मेरी आँख कमल है, इसलिए एकसौआठवें कमल के रूप में अन्तिम कमल के रूप में भेंट करने में ही अनुष्ठान की पूर्णता है, इसके लिए बहुत बड़े संयम की अपेक्षा है।

'फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा-ज्योति हिरण'

इसके पहले की पंक्ति है—

निशि हुई विगत नभ के ललाट पर प्रथम किरण

रघुनन्दन की आँखों में साधना के आरम्भिक दिन महिमा की ज्योति के हिरण का स्फुरित होना एक गहरी सार्थकता रखता है। आकाश जो मलिन था, जो निशाचरों के उल्लास से बिंधा हुआ था, एकाएक प्रकाश से उद्भासित हो जाता है, एकाएक उसका भाग्य चमक उठता है और आकाश के भाग्य के चमकने के साथ-साथ राम की आँखों में महिमा की ज्योति मृग की तरह गतिशील हो उठती है। महिमा की ज्योति और हिरण में तादात्म्य स्थापित करने के पीछे **दो** अभिप्राय हैं। **एक** तो हिरण की आँखों का उजलापन सत्त्व के उद्रेक का प्रमाण होता है, ऐसा सत्त्व जिसमें रज और तम तिरोहित हो गये थे। राम की साधना प्रतिशोध के लिए न हो, किसी भी स्वार्थ के लिए न हो, केवल शुद्ध रूप से शक्ति के साक्षात्कार के लिए हो, अपने स्वरूप की सही पहचान के लिए हो, इसके लिए उजलेपन का स्मरण आवश्यक है। **दूसरा** यह है कि इस उजलेपन में एक ऐसी सक्रियता है जो केवल हिरण में पायी जाती है, यह उजलापन जड़ नहीं है और यही सिद्धि का प्रथम सोपान है।

चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन
प्रति जप से खिंच-खिंच होने लगा महाकर्षण।

इन दो पंक्तियों में निराला ने तांत्रिक अभिप्राय का काव्यात्मक उपयोग किया है। छठा चक्र शरीर में आज्ञा-चक्र कहा जाता है, जहाँ पर मन है और जहाँ से सारा स्नायु-संस्थान आदेश ग्रहण करता है। इस चक्र में अपनी कुण्डलिनी को चढ़ाने पर संघर्ष का एक अद्वितीय क्षण आता है, जब एक ओर जड़ का खिंचाव जबर्दस्त हो जाता है, दूसरी ओर चेतन का ऊर्ध्वारोहण—अत्यन्त सन्निकट जान पड़ता है। इस संघर्ष के क्षण में संयम की असली परीक्षा होती है और इसको पार करने के लिए राम निरन्तर देवी के द्विदल पदों पर ध्यान करते हुए जप के स्वर से अम्बर को थर-थर कँपाते हुए दो दिन एक आसन पर बैठे रहते हैं। पहले

के पाँच चक्रों में एक-एक दिन लगा था। पर आज्ञा-चक्र में दो दिन लग गये, क्योंकि यहीं जड़ का, पृथ्वी का खिंचाव सबसे ज्यादा तीव्र है। इसे पार कर लेने के बाद आठवें दिन वे सहस्रार चक्र के पार देखने के प्रायः करीब पहुँच जाते है और केवल एक कमल चढ़ाने को शेष रह जाता है और दो पहर रात बीत जाती है, और तभी दुर्गा साकार उपस्थित हो जाती है और एक कमल छिपकर हँसकर उठा ले जाती हैं। यह एक कमल ही आज्ञा चक्र का जड़ का अन्तिम आकर्षण है।

जानकी ! हाय उद्धार प्रिया न हो सका
वह एक और मन रहा राम का जो न थका

यही एक इन्दीवर था जिसे दुर्गा उठा ले गयीं। यही इन्दीवर ऐसा था जो जीवन के समारब्ध दग्ध हो जाने पर भी बचा हुआ था। राम के समस्त प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो चुका था, उनके सब बंधन कट चुके थे। उनके भोग्य सुख-दु:ख दोनों दग्ध हो चुके थे, पर एक आकांक्षा बची थी, जानकी का उद्धार और इस आकर्षण से मुक्ति दिलाने में उस इन्दीवर के स्थान पर एक अदृश्य इन्दीवर था, राम का अपराजित मन, जो माया के आवरण को भेद कर विद्युत्-गति से बुद्धि के दुर्ग में पहुँचता है और उस मन को प्रकृष्ट मन (प्रमन) बना देता है। और तभी उन्हें ज्ञान होता है कि जो इन्दीवर गया, उससे प्रकृष्टतर इन्दीवर मेरी दायी आँख है, क्योंकि यह सूर्य है, शत-सहस्र इन्दीवरों को प्रस्फुटित करने में समर्थ है। एक माँ इन्दीवर छिपाती है, दूसरी माँ जो जन्म देने वाली है, जो प्रत्येक श्वास मे है, रक्त के प्रत्येक प्रवाह में हैं, उसकी जगह पर दूसरा कमल राम के अंग मे ही उपस्थित कर देती है। यह शक्ति का आत्मीय रूप में साक्षात्कार है।

हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राम की शक्ति-पूजा के अन्तिम चरण के पूर्व ही राम का मुक्त होना आवश्यक है—राग से भी, द्वेष से भी। उनके सुख-दु:ख दोनों का क्षय होना आवश्यक है। अपने स्वरूप की पहचान करने जब जा रहे हैं, तब उनका अपना सुख-दुःख सदा के लिए निश्शेष होने जा रहा है। यह उल्लेखनीय है कि जिस आँख को राम निकालने जा रहे हैं, वह वही आँख है, जिसके बारे मे कवि ने पहले कहा है कि इनमें सीता के राममय नयन खिंचे हुए हैं। ऐसी आँख जिसमें सीता की राम-दर्शन से नवोन्मीलित दृष्टि खिंची हुई हो, बड़े मोह की वस्तु है। उसमें सुख का अतिशय है और उस क्षण के स्मरण में दुःख का अतिशय है। इन दोनों अतिशयों से मुक्त होना आसान नहीं है। इसीलिए कवि 'हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध' के वाद तुरन्त कहता है 'रह गया एक इन्दीवर'। अभी एक इन्दीवर रह गया है। एक फल अभी शेष रह गया है, उसकी स्पृहा भी जब छूट जाय, जब जानकी के उद्धार के लिए रावण का वध अभीष्ट न रह जाय, तभी राम की शक्ति का वास्तविक पूर्णावतार होगा। जानकी के प्रेम को इस प्रकार

कवि ने सुख-दुःख के रूप में स्थापित किया है और उस प्रेम के रूप में माता के स्नेह को स्थापित किया है जिसकी स्मृति मात्र से इन्दीवर का वास्तविक ज्ञान हो जाता है। सीता भी महाकाल और महानाश को व्याप्त करके स्थित महाभाव मगल के लिए अभ्युद्यत महाशक्ति की प्राप्ति के लिए साधन बन जाती है। दूसरे शब्दों में सीता राम के समष्टि चित्त की पूर्णता में अंगभूत बन जाती है। राम की शक्ति पूजा वस्तुतः सीता का उन्नयन है—राम की प्रिया से जगज्जननी के पद पर।

इस कविता के इन उपर्युक्त अलग-अलग संकेतों में और पौराणिक तथा काव्यात्मक रूढ़ियों के उपयोग में कवि ने परंपरा का आधार अवश्य लिया है और वह इसलिये नहीं कि परम्परा को पुनर्जीवित करना चाहते हैं, बल्कि इसलिये कि परिचित अभिप्रायों और रूढ़ियों के द्वारा संप्रेष्य अर्थ को अधिक स्पष्ट रूप मे द्योतित किया जा सकता है। इस कविता में यह उल्लेखनीय है कि परम्परागत ध्यानों को एक नया आयाम दिया गया है। शक्ति के दो ध्यान एक साधना के पूर्व और एक साधन के बाद इसका स्पष्ट संकेत करते हैं कि निराला की महाशक्ति और उनका महाभाव मंगल तांत्रिक अमूर्त कल्पना न होकर सृष्टि के इन्द्रियगोचर, अनुभवगोचर यथार्थ हैं, जो मनुष्य के मन के भीतर रहने वाले असुर को दबा रहे हैं।

सिद्धि के बाद वाले रूप के वर्णन में जिस दुर्गा की अवतारणा की है, उसका दक्षिण पद सिंह पर स्थित है और बायाँ असुर के कन्धे पर। पहले ध्यान में गरजता सिन्धु भी सिंह है और बाँया जिसको दबाये है, वह असुर-स्कन्ध ही अंधकार है। पहले ध्यान में दशों दिशायें हस्त है, दूसरे ध्यान में उन दशों हस्तों में विविध अस्त्र सज्जित हैं। इस महाशक्ति के दायें लक्ष्मी, बायें सरस्वती है। दायीं गोद मे गणेश है, बायीं गोद में कार्तिकेय तथा मस्तक पर शंकर है। प्रायः शक्ति के ध्यान मे शिव शव रूप में चरणों के नीचे प्रतिष्ठित दिखाये जाते हैं, पर जिस महाशक्ति ने राम का हाथ पकड़ा है उसमें शिव शव नहीं हैं, शिव शक्ति के मौलिभूत है, शक्ति के परम प्रयोजन। और चूँकि वाम भाग शक्ति का सुन्दरतर भाग है, इसलिये उस भाग में सरस्वती की स्थिति है और रण रंग-राग युद्ध-देवता कुमार। वाग्देवी को और रण देवता को एक साथ रखकर शक्ति के बायें पार्श्व को कवि ने दायें पार्श्व की अपेक्षा जिसका कार्य केवल धन देने का या मंगल देने तक ही सीमित है अधिक महत्त्वपूर्ण जानबूझ कर बनाया है और इसी के द्वारा वे आधुनिक संदर्भ मे राम की शक्ति पूजा को स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। सरस्वती का कार्य मंगल नहीं है, उसका कार्य आधुनिक शक्तियों के विरुद्ध रणघोष के द्वारा जीवन को सुन्दरतर बनाना है, जीवन को सुख साधक बनाना है। यह उल्लेखनीय है कि निराला किसी विशेष तान्त्रिक या धार्मिक उद्देश्य से ऐसी कल्पना न करके अपने

काव्य की सोद्देश्यता के लिये धार्मिक या तान्त्रिक कल्पनाओं एवं विश्वासों का सर्जनात्मक उपयोग करते हैं। इसलिये कोई इस कविता के आधार पर शाक्त कहना चाहे तो कह ले, पर वस्तुतः शक्ति का साक्षात्कार उन्होंने अपने काव्यार्थ के रूप में किया है और राम की शक्ति-पूजा शक्ति का ही काव्य रूप है—उसकी सार्थकता काव्यार्थ ग्रहण करने वाले के लिये कहीं अधिक, तान्त्रिक या धार्मिक के लिये अपेक्षाकृत बहुत कम है।

इस कविता में सादृश्य-विधान एवं प्रतीकविधान का उपयोग बहुत सयत ढग से किया गया है। 'राजीव' प्रतीक और उपमेय दोनों रूप में प्रयुक्त है, उसी प्रकार अंधकार और रात्रि भी प्रतीक और उपमेय दोनों रूप में प्रयुक्त है। राजीव या कमल सौन्दर्य और सौष्ठव का, उत्फुल्लता और सरसता का उपमेय है, तो पूर्णता के लिये ऊर्ध्वमुखी साधना का और शक्ति के आश्रय के प्रतीक के रूप में वार-बार दुहराया गया है—इसके अलावा सादृश्य विधान के केवल पाँच स्थल हैं। पहले स्थल में एक उत्प्रेक्षा है कि राम की जटा की लटें खुल रहीं हैं और पीठ पर, बाहो पर, वक्ष पर छितरा आयी हैं। ऐसा लगता है मानो एक ऊँचे दुर्गम पर्वत पर रात्रि का अंधकार एकाएक उतर आया है और इस अंधकार में कहीं दो ताराएँ केवल उद्भासित हो रही हों—

> रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत-चरण,
> श्लथ धनु-गुण है, कटिबन्ध स्रस्त-तूणीर-धरण,
> दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल
> फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल
> उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार;
> चमकती दूर ताराएँ ज्यों हो कहीं पार।

इस उत्प्रेक्षा में यहाँ राम की वास्तविकता के ऊपर ऐसी साभिप्राय कल्पना उत्प्रेक्षित की गयी है, जो राम के अचल धैर्य और राम के संशय दोनों को प्रस्तुत करने के लिये पर्वत और अंधकार का चित्र प्रस्तुत करके इन दोनों के संघात को आकार प्रदान करती है। सांध्य तारा के रूप में राम की आँखों की उत्प्रेक्षा उन आँखों की तरल ज्योति और दूरगामिनी दृष्टि को सबके ऊपर प्रतिष्ठित करके आत्म-विश्वास के बीज का वपन करती हैं, क्योंकि तारा के रूप में आँखों की यही उत्प्रेक्षा आगे चलकर इसी कविता में तरलता के अश्रुबिन्दु के रूप में परिणत हो जाती है। जिन आँखों में प्रकाश है, उन्ही आँखों में एक द्रवणशीलता भी है, जो राम के संकल्प को उस प्रकार का निर्मम प्रतिशोधक रूप नहीं देने देती, जिसकी कल्पना रावण जैसे महाशक्तिशाली के प्रतिकार में की जा सकती थी।

दूसरा सादृश्य-विधान पुनः एक उत्प्रेक्षा के रूप में है—गगन मानो अंधकार उगल रहा हो. पर्वत मानो ध्यानमग्न हो. अत्यन्त संक्षिप्त उत्प्रेक्षा पर जहाँ पर्वत

राम का उत्प्रेक्षमाण था, वहाँ स्वयं उत्प्रेक्षित हो जाता है और राम की चिन्ता अपने ऊपर ओढ़ लेता है। यह विपर्यास राम की चिन्ता को विश्वव्यापक आयाम देने में ही साभिप्राय है।

है अमा-निशा; उगलता, गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे, अम्बुधि विशाल;
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न; केवल जलती मशाल।

तीसरा सादृश्य-विधान रूपकातिशयोक्ति के रूप में इन पंक्तियों में उपनिबद्ध हुआ है—

काँपते हुए किसलय,—झरते पराग-समुदय,—
गाते खग नव-जीवन-परिचय,—तरु मलय-वलय—
ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय,—

इसमें अधरों का किसलय के साथ, मुख का कमल के साथ, वाणी का वसन्त की काकली के साथ, शरीर का चन्दन तरु के साथ, कान्ति का झरने के साथ तादात्म्य अत्यन्त संक्षिप्त भाषा में प्रथम मिलन की आकस्मिक पर अभिभूत करने वाली, स्मृति को ऐसी चित्रमयता प्रदान करता है, जिसमें एक साथ मधुमास की शक्ति के रूप में नये शक्ति के संचार का क्षण अपनी छवि जानकी की आँखों में पाने के कारण अपने स्वरूप की पहली पहचान और प्रथम मिलन में ही एक घटित हुए भीतर के बाहर के अद्‌भुत परिवर्तन के संकेत संगुम्फित हो गये। यहाँ पर कुछ भी विस्तार किया जाता तो स्मृति की सघनता नष्ट हो सकती थी और तादात्म्य के अलावा किसी भी दूसरे सादृश्य-विधान से आकस्मिकता का बोध नष्ट हो सकता था।

चौथा सादृश्य-विधान उत्प्रेक्षा, अपह्नुति और सन्देह, तीन अलंकारों की लड़ी के रूप में प्रस्तुत होता है—

युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु-युगल,
देखा कपि ने, चमके नभ में ज्यों तारा-दल—
ये नहीं चरण राम के, बने श्यामा के शुभ,—
सोहते मध्य में हीरक-युग या दो कौस्तुभ;

पहले चरणों पर ढुलक कर आयी हुई आँसू की दो बूँदों को तारादल के रूप मे उत्प्रेक्षित किया गया है। फिर राम के चरणों की सत्ता को नकारते हुए उन्हें श्यामा के चरणों के रूप में देखा गया है और अन्तिम पंक्ति में यह सन्देह व्यक्त किया गया है कि इन चरणों में ये जो दो चीजें झलक रही हैं, वे दो हीरे हैं या कौस्तुभ-मणि। इस प्रकार कल्पना के तीन स्तर, एक के बाद दूसरे अधिक कल्पना-प्रवण यहाँ इसलिये रखे गए हैं कि हनुमान के चञ्चल चित्र का क्षण-क्षण बदलता हुआ आवेग ध्वनित हो सके। राम की आँखों में आँसू आये, वह उन चरणों पर

ढुलक पड़े, जिनमें हनुमान को आश्वासन मिलता आया है, यह उनके चित्त को उद्विग्न करने के लिए बहुत प्रबल उद्दीपन है। उस उद्वेग की अभिव्यक्ति ही एक के बाद दूसरी ओर अधिक अवास्तविक पर और अधिक कल्पनाप्रवण सादृश्य-विधान के द्वारा ही अधिक सशक्त रूप में सम्भव है और यह जहाँ एक ओर अश्रुओं के माध्यम से शक्ति के स्वयं हनुमान के भीतर शक्ति की संकल्पना के लिए आधार बनता है, वहीं दूसरी ओर भक्ति के उद्वेग को रूपायित करने में भी समर्थ होता है।

पाँचवाँ और अन्तिम लम्बा सादृश्य-विधान साधना के पूर्व राम के द्वारा शक्ति के साक्षात्कार को वर्णित करने के लिए उपनिबद्ध हुआ है—

देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो वह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना है इसकी मकरन्द-विन्दु;
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;

दशदिक्-समस्त हैं हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर में हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व,
मानव के मन का असुर मन्द हो रहा खर्व।

जो भूधर राम का उपमेय बना, वही भूधर शक्ति के प्रादुर्भाव का विराट् आधार-पीठ बन रहा है और जो सिन्धु पहले अपनी गरज से अन्धकार को बढ़ा रहा था—वही शक्ति का वाहन बनकर गरज रहा है और जो दिशाएँ अन्धकार से घिरकर लुप्त हो गई थीं, वे ही अब शक्ति के हाथ बनकर आलोकित हो गई हैं और जो शक्तिशाली गर्व बहुत स्फीत भाव से सामने खड़ा था, वह अब छोटा हो कर शक्ति के चरणों के नीचे धँसता चला जा रहा है। यहाँ रूपक, अपह्नुति और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि के द्वारा जिस वास्तविकता का साक्षात्कार किया गया है, वह वास्तविकता राम की चिन्ता, राम के धैर्य, राम की आकुलता और राम के संकल्प के विभिन्न प्रतिमानों को ही अपने में समेटती हुई उन्हीं के संपुञ्जन से एक ऐसा आकार ग्रहण करती हैं, जो राम की शक्ति-पूजा की मौलिक कल्पना का पहला परिचय देती है।

जहाँ तक कि और सादृश्य-विधानों और प्रतीक-विधानों का प्रश्न है, उनके बारे में चर्चा ऊपर की जा चुकी है। राम की शक्ति-पूजा में वस्तुतः थोड़े से ही उपमेय-उपमानों से काम लेने का अभिप्राय सम्भवतः यह है कि कविता के केन्द्र-बिन्दु में एक संहत शक्ति की पूजा है, इसलिए सन्दर्भ में संग्रथित वस्तुओं के अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तु का आश्रय लेना कविता के केन्द्रित भाव को विकीर्ण कर सकता था। कवि इस विकिरण से बचना चाहता है।

इस कविता की संरचना ऊपर से आख्यानपरक होते हुए भी आन्तरिक संयो- की दृष्टि से नाटकीय है। इसीलिए इसमें जहाँ केवल एक आख्यान के रूप में वर्णन दिखाई देता है, वहाँ भी नाटकीय द्वन्द्व भीतर से मुखरित होता रहता है। आरम्भ मे ही राम-रावण के अपराजेय समर के वर्णन के प्रसंग में प्रत्येक पंक्ति में द्वन्द्व संलक्षित है। यह द्वन्द्व कभी आन्तरिक घात-प्रतिघातों के रूप में—

प्रतिपल-परिवर्तित व्यूह,—भेद-कौशल-समूह—
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,

कभी जैसे—'जानकी-भीरु-उर-आशा-भर,—रावण-सम्वर।' और कभी बंध के तनाव में शिथिलता एकाएक लाकर जैसे—

···तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्त-कर, वेग-प्रखर,
रति-शेल-सम्वरण-शील, नील-नभ-गर्जित-स्वर,
प्रति-पल-परिवर्तित व्यूह,—भेद-कौशल-समूह—
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित-वह्नि-राजीवनयन—हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव-रावण-वारण-गत-युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति-मर्दित-कपि-दल-बल-विस्तर,
अनिमेष-राम-विश्वजिद् दिव्य-शर-भंग—भाव,—
विद्धाङ्ग—बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि-खर-रुधिर-स्राव,
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-वानर-दल-बल,—
मूर्च्छित-सुग्रीवाङ्गद-भीषण-गवाक्ष-गय-नल—
वारित-सौमित्रि-भल्लपति-अगणित-मल्ल-रोध,
गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल-प्रबोध,
उद्गीरित-वह्नि-भीम-पर्वत-कपि-चतुः प्रहर,—

एक संयुक्ताक्षर-संरचना के द्वारा विशेष प्रकार के कसाव हैं। एकाएक कसाव में ढीलापन कर ऐसी पद-रचना की गयी है, जिसमें संयुक्ताक्षरों का प्रभाव एकदम नहीं होता और ऐसा लगता है जैसे युद्ध का तनाव अपने उत्कर्ष पर पहुँचकर एकदम शिथिल हो गया हो—

जानकी-भीरु-उर-आशा भर,—

कविता के नाटकीय मोड़ दीर्घ स्वरान्त पंक्तियों के युग्मों के द्वारा संकेतित होते हैं। ऐसे पंक्ति-युग्म पूरी कविता में पाँच बार आये हैं। पहला युग्म है—

फिर देखी भीमा-मूर्ति आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को

यह मोड़ है—प्रथम मिलन की स्मृति के ज्वार में उमड़े हुए संकल्प की शक्ति के

प्रादुर्भाव और आज के दिन के भीतर के अनुत्साह को आमने-सामने खड़ा करने वाला है और पहले ज्वार को पराभूत करके शंका का एक नया उदय कराने वाला है। इस मोड़ के कारण राम विह्वल होते हैं और वह विह्वलता हनुमान को व्याकुल करती है। हनुमान स्वयं राम का कार्य सम्पादित करने के लिए उद्यत हो जाते हैं, यह मोड़ शक्ति के सामने और शक्ति के आराधक शिव के सामने एक सकट उपस्थित कर देता है और संकट का कारण बन जाता है। इस संकट का समाधान करने के लिये दूसरा मोड़ आता है—राम-रावण की शक्ति का संहार कवि का लक्ष्य नहीं। राम की शक्ति की अवतारणा कवि का लक्ष्य है, वह हनुमान् से सम्पादित नहीं हो सकती, वह राम से ही सम्भव है। हनुमान की शक्ति का उद्वेलन राम की शक्ति की केवल एक हल्की-सी पहचान है। पर इस उद्वेलन को आगे नहीं बढ़ने देना है—इसलिये दूसरे मोड़ पर दो पंक्तियाँ आती हैं—

क्या नहीं कर रहे तुम अनर्थ ?—सोचो मन में;

इस मोड़ के द्वारा कविता महाकाश को ग्रसने वाले शक्ति के भय से राम के विषाद की ओर पुनः मोड़ देती है और यह विषाद राम के वितर्क में क्रमशः और उत्कर्ष को प्राप्त होता जाता है। उत्कर्ष का चरम बिन्दु है वह निराशा, जो देखती है कि शक्ति रावण को अंक में लिये हुए है, और प्रजापतियों के संयम से रक्षित शर श्रीहत और खण्डित हो जाते है और राम इस पर भी अविचलित होकर जब क्रुद्ध होते हैं तो उन्हें भी एक झटका लगता है।

विचलित लख कपिदल क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यो-ज्यों
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों

इस झटके से राम ऐसे पराभूत होते हैं कि हाथ बँध जाते हैं, फिर धनुष नही खिचता और फिर त्रास छा जाता है। त्रास के इस उत्कर्ष से ही एक समाधान का नाटकीय मोड़ उत्पन्न होता है। शक्ति की मौलिक कल्पना करने के लिए एक संकल्प आता है, जिसकी परिणति उस शक्ति के प्रथम साक्षात्कार के साथ-साथ राम के आदेश के सूत्रपात में होती हैं।

फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए
बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए—

इन दोनों पंक्तियों में शक्ति की साधना के लिए राम की तैयारी कितनी प्रतिशोध-रहित और कितनी विनीत है, यह इसी से द्योतित होता है कि राम को केवल एक सौ साठ इन्दीवर चाहिएँ, इन्दीवर जो शक्ति के प्रस्फुटन का, आकाक्षाओं के ऊर्ध्व संचरण का और मन के अमनीभवन का एक साधन है। इस साधना का विमर्श क्षण उपस्थित होता है और उस विमर्श की वेला में एक बार पुनः एक कमल खोने पर जानकी का ध्यान आता है। जानकी के ध्यान के साथ अपने आजीवन दुरन्त अभिशाप का ध्यान आता है, किन्तु इस आत्मग्लानि मे ही

एक नया बोध भी जाग्रत होता है—एक इन्दीवर जो राम का 'न थका' मन है, जो उनका विशुद्ध चित्त है, वह एकदम सामने आ जाता है। इस प्रकार यह मोड़ साधना के द्वार पर पहुँचकर विफलता के जाज्वल्यमान क्षण और नये विराट्-बोध के जागरण के क्षण की संधि का मोड़ है।

"जानकी ! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका"

और यही क्षण राम को स्मरण दिलाता है कि जिस इन्दीवर से शक्ति की अर्चना होनी है, वह उनके इन्दीवर-नयन हैं, और एक नहीं दो-दो और यह उपाय भी माँ के प्रिय सम्बोधन की स्मृति से उद्‌बोधित होता है। इस प्रकार इस कविता में यह अन्तिम नाटकीय मोड़ है और कवि ने संलक्ष्य तुक-संरचना के द्वारा इन मोड़ों को ज्ञापित कराया है। एक प्रकार से नाटकीयता को छन्दोरचना के भीतर संग्रथित कर दिया है।

नाटकीय संरचना की मुख्य विशेषता है द्वन्द्व, जिसमें तर्क और एक से अधिक दृष्टियों का संवाद नितान्त अपेक्षित है। आख्यानपरक रचना मे वस्तुपरक दृष्टि प्रधान रहती है। राम की शक्ति-पूजा ऊपर से अन्य पुरुष-प्रधान होने के कारण आख्यानपरक दिखती है, पर उसकी भीतरी संयोजना को ध्यान से पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि इसमें राम के अनेक रूपों का ही अन्तर्द्वन्द्व मुख्य प्रतिपाद्य है। पूरी कविता एक प्रकार से राम और राम की शक्ति के बीच संवाद है—इसीलिये इसमें तीन मुख्य नाटकीय लक्षण हैं। जो भी ब्यौरे इसमें दिये गये हैं, वे बहुत थोड़े से हैं और बहुत स्पष्ट और स्थिति की गम्भीरता के अनुकूल प्राकृतिक परिवेश भी इसी गुरुता के अनुकूल है। ध्वनि-संरचना बहुत नियमित है, छन्द घनाक्षरी ही प्रायः है, जहाँ कहीं उसमें भंग है, वहाँ नाटकीय मोड ही उपलक्षित है, उसमें तुक-संरचना भी नियमित है। कविता समर के नाटकीय विवरण से प्रारम्भ होती है और राम की चिन्ता से राम की सिद्धि तक विभिन्न दृश्यों में विभक्त होकर आगे बढ़ती है। इसमें सम्वाद है, लेकिन वे सम्वाद दोनों प्रकार के हैं—अन्तर्मुख और बहिर्मुख।

राम स्वयं अपने भीतर विभक्त हैं और इस कविता की परिणति उन समस्त विभाजनों को अखण्डता प्रदान करती है और यही उसकी नाटकीय फलनिष्पत्ति है। इस कविता में इसीलिये गीतिकाव्य के भीतरी मनोभावों का उन्मुक्त क्रन्दन नहीं है, इसमें नाटकीय स्थिति के अनुकूल द्विविधाओं और प्रत्याशाओं की एक होड़ लगी रहती है और यहाँ जितना बल इस पर है कि सभी परिचित हैं और सारा द्वन्द्व भीतर या बाहर परिचितों के बीच हो रहा है, उतना बल आख्यान-काव्य की तटस्थता या गीतिकाव्य की गहराई या आत्मलीनता पर नहीं है। संरचना की दृष्टि से इसीलिये यह कविता नाटकीय आख्यान-काव्य कही जा सकती है, जिसमें आख्यान सतह पर है, नाटकीयता इसके भीतर इसकी अन्तर्धारा के रूप में प्रवहमान है।

राम की शक्ति-पूजा में इसी नाटकीयता के सन्निवेश के कारण बलाघात पर विशेष बल है। यह बलाघात कभी-कभी समास में संयुक्ताक्षर से प्रारम्भ होने वाले पद के पूर्व ह्रस्व स्वर को भी गुरुता प्रदान करता है जैसे—

प्रतिपल—परिवर्तित+व्यूह,—

प्रायः हिन्दी की प्रकृति के अनुसार पद के सयुक्ताक्षर के पूर्व आने वाला ह्रस्व स्वर गुरु होता है और इस कविता में भी अन्यत्र इस प्रकार के उदाहरण केवल दो और हैं, पहला है—

जिसने हित कहते किया मुझे पद-प्रहार

और दूसरा है—

मन्द-स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित

तीसरा एक और है—

······मन्द-स्वर-वन्दन कर

इन सभी स्थलों में बलाघात की संवादिता स्थापित करने के लिए हिन्दी छन्दोविधान के सामान्य प्रत्याशित नियम का अतिक्रमण किया गया है, जो बलाघात के बल पर ही किया गया है। बलाघात के कारण ही छन्द का बन्ध कहीं-कहीं बिना बलाघात में पड़े टूटता-सा लगता है, जैसे—

फूटी स्मित सीता-ध्यान-लीन राम के अधर,
फिर विश्व-विजय-भावना हृदय में आई भर

इसमें पहली पंक्ति में अधर के अन्तिम स्वर के ऊपर बलाघात है, जिसके कारण अधर का 'अ' दब जाता है और दूसरी पंक्ति में 'भर' के 'भ' पर बलाघात है। इस प्रकार पढ़ने पर दोनों पंक्तियाँ सन्तुलित लगती हैं। बलाघात के अलावा नाटकीयता की अभिव्यक्ति का दूसरा साधन ध्वनि के स्तर पर लघु-गुरु अक्षरों का भिन्न प्रकार से संयोजन आकस्मिक द्रुतगति को संलक्षित करने के लिए किया गया है, जैसे—

शत-वायु-वेग-बल, डुबा अतल में देश-भाव,
जल-राशि विपुलमय मिला अनिल में महाराव
वज्रांग तेजघन बना पवन को महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास

और जहाँ गति में मन्द्रता या तर्क-वितर्क की शृंखला लानी अपेक्षित है वहाँ लघु-लघु दीर्घ या केवल दीर्घ अक्षरों की संयोजना की गई है। जैसे—

कपि हुए नम्र, क्षण में माता छवि हुई लीन,
उतरे धीरे-धीरे गह प्रभुपद हुए दीन।

वाक्यरचना और शब्दरचना स्तर पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि विशेषणों की की ओर विशेषण और संज्ञा मन्द क्रिया के

ऊपर अधिक हावी हैं। विशेषणों की संख्या संज्ञा शब्दों से अधिक है, विशेषण भी समस्त रूप में या तत्सम रूप में अधिक आये हैं। विशेषणों का यह प्राधान्य, चाहे विशेषण उपवाक्यों के रूप में, चाहे समस्त पद के रूप में, चाहे बहुब्रीहि समास के रूप में, चाहे कृदन्त तत्सम या तद्‌भव कृदन्त के रूप में या चाहे पूरक विशेषण के रूप में यह संलक्षित करता है कि काव्य के वर्णनीय विषय का हर एक चढ़ाव-उतार अपनी अलग विशिष्टता रखता है, व्यापार स्वयं विशेषण बन जाता है। विशेषण बनने का अर्थ ही होता है मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु को वैशिष्ट्य प्रदान करना, तथा इन दोनों की विविध भंगिमाओं को उद्‌भासित करना, इसीसे विशेषण संरचना का योगदान अधिक साभिप्राय हो जाता है। प्रायः विशेषण वाक्य में इसीलिए क्रिया के बाद भी आये हैं, वह भी इसी बात को द्योतित करने के लिए कि बल इन विशेषणों पर अधिक है।

किस प्रकार 'राम की शक्ति पूजा' के केन्द्रभूत अर्थ को ग्रहण करने में रीति-विज्ञान के उपकरण सहायक हो सकते हैं, इसका एक निदर्शनमात्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः प्रत्येक पक्ष को लेकर और अधिक विस्तार में व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। किन्तु ऊपर के विश्लेषण का मुख्य उद्देश्य केवल यह प्रतिपादित करना है कि कविता-संरचना के विविध उपादानों को ग्रहण करके और उनके संयोजन के भीतरी अभिप्राय को उसमें ढूँढ़कर 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी ऊपर से कठिन लगने वाली कविता को उसकी समग्रता में रसास्वादित किया जा सकता है।

३. असाध्य वीणा

असाध्य वीणा कविता चार खण्डों में विश्लेषण की सुविधा की दृष्टि से विभाजित की जा सकती है। पहले खण्ड में वीणा बजाने के लिए आमन्त्रण, दूसरे मे वीणा बजाने की प्रक्रिया में प्रियम्वद का ध्यान, तीसरे में वीणा-वादन और उसका प्रभाव, चौथे में वीणा-वादक का वक्तव्य और कथा की समाप्ति। पूरी कविता मौन से स्वर की ओर जाने की और स्वर से पुनः मौन की ओर लौटने की—एक ओर व्यष्टि से समष्टि में डूबने की तथा समष्टि से व्यष्टि में अलग-अलग उतरने की प्रक्रिया का एक आख्यान है। कविता में मौन या नीरवतावाची शब्द बारह बार और ध्वनिवाची शब्दों में वीणा उन्नीस बार, '–गा' क्रिया तेरह बार और विभिन्न प्रकार के ध्वनिवाची शब्द अनेक बार आये हैं। पर इन शब्दों की पुनरावृत्ति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं, जितनी कि कविता की पूरी योजना जो एक ऐसे किरीटी तरु की कहानी से शुरू होती है—जिसके 'कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे' और 'जिसके कन्धों पर बादल सोते थे' तथा जिसकी जड़ पाताल-लोक जा पहुँची थी। एक प्रकार से पूरे विश्व को व्याप्त करने वाली सृष्टि को प्रक्रिया के मूर्त विम्ब के रूप में 'किरीटी-तरु' का उपस्थापन हुआ है। इसीलिए इस तरु के साथ नाना प्रकार के जीवन के स्पन्दन और उन स्पन्दनों को मुखरित करने वाली नाना जातीय ध्वनियों के सम्भार इस प्रकार ओत-प्रोत है कि इस किरीटी तरु में वे सभी ध्वनियाँ समा गई है। इसके एक सार-भाग से 'वज्रकीर्ति' ने साधना के द्वारा 'वीणा' गढ़ी तो उस वीणा में समग्र सृष्टि की वाणी भी समाहित हो गयी। किन्तु इस समाहित वीणा के सूत्रों को छेड़कर मुखरित करने के लिए पुनः वैसा कोई साधक चिर काल तक नहीं आया। वीणा असाध्य बनी रही।

गुफा-गेह में रहने वाला केश-कम्बली—'प्रियम्वद' कलावन्त के रूप में नही बल्कि एक शिष्य साधक के रूप में वीणा के प्रति अपने को अर्पित करता है। ठीक-ठीक कहें तो अपनी व्यष्टि को उस समष्टिमयी समाहित वाणी में निःशेष भाव से डुबा देता है और उस समष्टि के प्रत्येक जीवन-स्पर्शी मुखरित क्षण के साथ अपनी व्यष्टि का सीधा और स्थापित करता है जब यह प्रक्रिया पूरी

हो जाती है, तब बीणा बज उठती है। व्यक्ति का अभिमान विराट् के प्रति अर्पित होकर विराट् को गतिशील बना देता है। जब तक व्यक्ति के भीतर विराट् निजता के सम्बन्ध से स्थापित नहीं होता, तब तक वह एक अभिमन्त्रित जड़ पदार्थ बना रहता है। उसे गतिशील बनाने के लिए व्यक्ति की आवश्यकता है और व्यक्ति को अपनी निजता प्रमाणित करने के लिए उस विराट् की आवश्यकता है। जब दोनो परस्पर साकांक्ष हो जायें और दोनों के बीच परस्पर पूर्ण रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाय, तब विराट् व्यक्ति की ओर उन्मुख हो जाता है, सृष्टि की धारा फौव्वारे की तरह एक केन्द्र से ऊपर जाकर अनेक केन्द्रों को छूने लगती है।

अपने भीतर की गुफा में लीन रहने वाला प्रियम्वद वीणा को साधते समय जब अपने को शोधता है, और किरीटी तरु को सौपता है, तब वह उस तरु के प्रत्येक ध्वनि-सम्भार, उसके अनुभव के 'एक-एक अन्तस्वर' का आवाहन करता है—और उसे गाने के लिए तथा विविध प्रकार के जीवन-संगीत छेड़ने के लिए निवेदन करता है। साथ ही साथ वह स्वयं उन तमाम प्रकार से संगीतों के बीच में अपने को स्थापित करता है।

वह 'व्याकुल मुखरित वन-ध्वनियों के वृन्द-गान के मूर्त रूप' को अपने ध्यान मे एक क्रम से पूर्ण आकार प्रदान करता है। आकार प्रदान करते समय मौन और मुखरता के आरोह-अवरोह का क्रम चलता रहता है।

'वर्षा बूँदों की पटपट' के जोड़ में—'महुए का चुपचाप टपकना', 'खग-शावक की चिहुँक' के जोड़ में 'लहरीले जल का कल निनाद' और 'ढोलक की थाप अनमनी बाँसुरी', 'कठफोड़े का ठेका', 'फुलसुँघनी की आतुर फुरकन', इन सबके जोड़ मे 'ओस-बूँद की ढरकन'। पुनः एक नया आरम्भ—'लहरियों की सरसर-ध्वनि' से, जिसमें—'कूँजों का क्रेंकार' और 'ट्रिटिभ की लम्बी काँद' के जोड़ में 'पंख-युक्त सायक सी हंस-बलाका' की उड़ान, 'पतंग की टकराहट' के जोड़ में 'जल-प्रपात का प्लुत एक-स्वर' और 'झिल्लीदादुर, कोकिल-चातक की झंकार पुकारों' के जोड़ मे 'ससृति की साँय-साँय' तक एक क्रम चलता है। 'मेघों की बाढ़' 'हाथियों की चिग्घाड़' जैसी प्रलयंकर ध्वनियों के संवादी रूप में 'ऐंठी मिट्टी का, स्निग्ध घाम मे धीरे-धीरे रिसना' और 'हिम-तुषार के फाहों द्वारा धरती के घावों का चुप-चाप सहलाया जाना' मौन के स्वर—अतिक्रामी रूप को व्यक्त करते हैं और 'गिरती चट्टानों की गूँज' खोयी साँस सी धीरे-धीरे नीरव हो जाती है।

पुनः 'वन-पशुओं की नाना-विध आतुर-तृप्त पुकारों' और आकस्मिक प[illegible] ध्वनियों की पृष्ठ-भूमि में स्पन्दन के सूक्ष्म-संवेदन, 'भोर की पहली किरण' के 'ओ[illegible] बूँद के संस्पर्श वाले क्षण की सिहरन', 'दुपहरी के तन्द्रालस क्षण का ठहराव', स[illegible] की सन्धिनिमिष की लीयमान पुलकन' जैसा—स्वर-कम्पन 'मैं' को 'मुझसे' [illegible] शब्द में लीयमान कर देता है।

और यहीं से क्रम उलट जाता है, 'मैं' गूँगा हो जाता है और नादमय-संसृति का प्रतिमान किरीटी तरु गूँगी वीणा के माध्यम से अपने स्वर-सागर के ज्वार मे 'मैं' के गूँगेपन को डुबा लेता है। वीणा का यह झनझनाना स्रष्टा के 'अखण्ड अशेष प्रभामय स्वयम्भू मौन' का जागरण बन जाता है।

इस समष्टि-संगीत के अवतरण मे सब व्यक्ति एक से डूबते हैं, लेकिन जब उसमें से डूबकर फिर तिरते है, तब फिर एकाकी हो जाते हैं, 'क्योंकि समष्टि मे मिलकर प्रत्येक व्यष्टि एक नव संस्कारयुक्त व्यष्टि बनकर निखर आता है। इसीलिए संगीत के साथ एकाकार होते समय सब एक हैं, किन्तु उस संगीत में जो अन्तर्नाद मिलता है, वह सबका अलग-अलग है, राजा-रानी और विभिन्न मनोदशा वाले सदस्यों का अलग-अलग।

विराट् सत्य एक और अखण्ड होते हुए भी उसका ग्रहण उस सत्य के प्रत्येक खण्ड में अलग-अलग और विशिष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आकांक्षा की पूर्ति पाता है; सबकी इयत्ता अलग-अलग जागती है और पुनः मूक हो जाती है।

वस्तुतः जो इस प्रकार की समस्त सृष्टि की व्यष्टि में मुखरित होने की प्रक्रिया है, वह न गायक की है, न वीणा की। वह सब कुछ की तथता है—

यहाँ शून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब में गाता है।

इतनी कथा कहने के बाद कह लेने योग्य जो भी बात थी, उसे कहकर कवि यह आवश्यक समझता है कि वह कहे—

प्रिय पाठक ! यों मेरी वाणी भी
मौन हुई।

अन्तिम पंक्तियाँ इसलिए आवश्यक थीं कि वाणी की सार्थकता मौन मे है, वह मौन ऐसा कि 'वह' के व्यक्ति को विराट् सत्य में, डुबोने के बाद पुनः पार तिरने पर मिला और वीणा तथा वाणी दोनों में स्वर का हेर-फेर है, नहीं तो दोनो एक हैं।

यह मौन एक तरह से उस विराट् सत्य के नाना मुखरित रूपान्तरों के ध्यान का सस्कार पाकर मौन बना है, यह अनबजी वीणा की तरह वीणा के स्रोत के आवाहन के माध्यम से बजकर मौन हुआ है, दूसरे शब्दों में स्रष्टा के रूप अपने को स्थापित करके व्यक्तित्व को समर्पित करके स्रष्टा के संस्कार से प्रसाद रूप में पाये हुए नये व्यक्तित्व के रूप में उदय हुआ है—

इस कविता के चार अन्तर्वर्ती टुकड़े हैं, जो एक या दो पंक्ति वाले हैं—

. "चुप हो गया प्रियम्वद।
सभा भी मौन हो रही।"

२. "डूब गए सब एक साथ।
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।"

३. "वीणा फिर मूक हो गयी।"

४. "प्रिय पाठक! यों मेरी वाणी भी
मौन हुई।"

इन चारों खण्डों में मौन पर ही विशेष बल है। एक प्रकार से चार दृश्य रूप से स्वतंत्र खण्ड कविता के केन्द्रवर्ती अभिप्राय को चार सोपानों में व्यक्त करते हैं।

पहला सोपान है, जीवन के अनकहे सत्य के साक्षी प्रियम्वद के द्वारा प्राचीन किरीटी तरु के स्मरण के अनन्तर मौन-ग्रहण, इस सोपान में महामौन को आत्मसात् करने का संकल्प कहा जा सकता है।

दूसरे सोपान में वह सन्धि-क्षण है, जब आत्मसात् करते हुए अपनी निजता भूल कर सब विराट् में डूब गये हैं; किन्तु अभी-अभी अलग-अलग सब एकाकी बनकर पार तिर रहे हैं।

तीसरा सोपान है, तिरते समय प्रत्येक की उपलब्धि का अलग-अलग विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर वीणा की कृतकार्यता के बाद का मौन! अर्थात् पहला मौन संकल्प का, दूसरा मौन प्रक्रिया का और तीसरा मौन उपलब्धि का। पहला मौन इच्छा का, दूसरा मौन क्रिया का, तीसरा ज्ञान का। पहला मौन आरोह का, दूसरा उत्कर्ष का और तीसरा उतार का द्योतक है, इस प्रकार भी माना जा सकता है।

चौथा सोपान मौन के इस शब्दवेधी-व्यापार को शब्दार्थ व्यापार में समर्पित करने वाले रचनाकार का वह मौन है, जो तीनों सोपानों को ग्रहण करके शब्दहीन सब में गाने वाले महामौन को मुखरित करके कृतार्थ हुआ मौन है, वीणा की मूकता का सही अर्थ में संवादी वाणी का मौन।

'असाध्य वीणा' में व्याकरण के स्तर पर पुरुष, काल, वृत्ति की सार्थकता पर विचार करते समय सबसे पहले ध्यान पुरुष पर जाता है। कविता का आरम्भ अन्य पुरुष से होता है और सिवा एक स्वागत-वाक्य के 'कृतकृत्य हुआ मैं तात! पधारे आप!' और एक दूसरे अनुरोध-वाक्य के अनन्तर 'मैं प्रतीक्षमाण' उसके अनन्तर प्रियम्वद के उत्तर 'मैं तो कलावन्त हूँ नहीं शिष्य, साधक हूँ' में 'मैं' तभी आता है, जब 'मैं' अर्थात् उत्तम पुरुष किरीटी तरु के प्रति अर्पित होने के लिए उपयोजित होता है, उसके बाद मध्यम पुरुष का आवाहन होता है और दोनों के तादात्म्य के अनन्तर अन्य पुरुष का आवाहन तब तक होता है, जब तक सारी स्मृतियाँ 'मुझ' को स्तब्ध-विजड़ित नहीं कर देतीं। उसके बाद 'मैं' एक अनुग्राह्य भूमिका में कर्त्ता के रूप में केवल यह स्मरण कराने के लिए 'मैं नहीं, नहीं। मैं

कहीं नहीं,' आता है और पुनः इस अभिज्ञान के आलोक में 'तू' छा जाता है।

इसके अनन्तर केवल अन्य पुरुष का प्रयोग चलता रहता है, एक वाक्य को छोड़कर—

मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में—
वीणा के माध्यम से अपने को मैंने
सब कुछ को सौंप दिया था—

इस वाक्य को छोड़कर अन्य पुरुष के सिवा कोई पुरुष कर्त्ता के रूप में नही आता। इस प्रकार 'मैं' का प्रयोग या तो अर्पित करने वाले कर्त्ता के रूप में, या अपनी सत्ता के निषेध का अनुभव करने वाले कर्त्ता के रूप में या अपने को ग्रहण करने की पात्रता के रूप में स्थापित करने वाली सत्ता के रूप में या सबसे अधिक अनेक प्रकार से विराट् से जुड़ने की अनेक प्रकार की संकल्पात्मक क्रियाओं के कर्त्ता के रूप में आता है; अन्यथा आदि-अन्त में अन्य पुरुष, मध्य मे ठीक उत्कर्ष बिन्दु, पर मध्यम पुरुष की पुनरावृत्ति सत्य के साक्षात्कार के उत्कर्ष बिन्दु और उसके पूर्व और परवर्त्ती क्षण की तथता की अन्य पुरुषता ही द्योतित करती है।

'मैं' का विलयन और वह भी एक विराट् 'तू' और नाना रूपों के माध्यम से खण्ड-खण्ड में दृश्यमान 'तू' में कराके 'मैं' का सबके साथ तादात्म्य स्थापित कराना ही कविता का मुख्य प्रयोजन है। इसीलिए इतने कौशल के साथ पुरुषों का संगुम्फन हुआ है। 'मैं' की अपेक्षा 'मुझे' और 'मेरे' की पुनरावृत्ति अपेक्षाकृत और भी कम है।

इससे यह सूचित है कि अप्रत्यक्ष रूप से 'मैं' का सम्बन्ध प्रत्यक्ष 'मैं' की अपेक्षा अधिक है। दूसरे शब्दों में 'मैं' प्रेरक नहीं हैं, बल्कि प्रेरणाओं को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत चेतना है—जब कि मध्यम पुरुष का कर्त्ता सकर्मक क्रियाओं के जाल की शृंखला को नियन्त्रित करने वाला प्रबल कर्त्ता है।

यह उल्लेखनीय है कि उस प्रसंग में सकर्मक क्रियाओं के अन्त में अकर्मक क्रियाएँ 'तू खो', 'तू आ', 'तू हो' आती हैं।

अर्थात् 'तू' का मुखरित होना जिस सान्निध्य के अन्तर्गत है, उसमें 'तू', 'तू' नहीं रह जाता वह 'मैं' में खो जाता है। 'तू' 'मैं' के समीप आकर 'मैं' हो जाता है। यही 'तू' के आह्वान का मूल उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'तू गा! तू गा!' यह अनुरोध फिर दुहराया जाता है। जैसे एक बार और मनुहार करने की देर है, इतने में तो—

नीरव पद रखता जालिक मायावी
सधे करों से धीरे धीरे
डाल रहा था जाल हेम तारों का।

की स्थिति आ जाती है।

पुरुष के बाद काल की सार्थकता का महत्त्व आता है । बीच को छोड़कर पूरी कविता भूत या पूर्ण भूतकाल में है । भविष्यत् काल की क्रिया केवल तीन हैं—

१. "साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी ।"

२. "निखर आया था जीवन-काञ्चन
धर्म-भाव से जिसे निछावर वह कर देगा ।"

३. "रानी उस एक प्यार को साधेगी ।"

तीनों के द्वारा साधना का भविष्यत् में प्रक्षेप ध्वनित है । असाध्य वीणा का अतीत काल मे असाध्य होना या किसी एक क्षण में साध्य होना जितना महत्त्व रखता है, उतना ही महत्त्व निरन्तर साधने की आकांक्षा भी रखती है ।

वर्त्तमान काल की क्रिया का प्रयोग दो उद्देश्यों से किया गया है । पहला तो अपने को अर्पित करने के भाव से या अपने व्यक्तित्व के निषेध की घोषणा के उद्देश्य से, दूसरा विराट् सत्य की विविध अभिव्यक्तियों से साक्षात्कार को द्योतित करने के लिए—

१. "मुझे स्मरण है···"

२. "और साँझ को
जब तारों की तरल कँपकँपी
स्पर्शहीन झरती है"

३. "अवतरित हुआ संगीत स्वयम्भू
जिसमें सोता है अखण्ड
ब्रह्मा का मौन
अशेष प्रभामय"

४. "सब अन्धकार के कण हैं ये । आलोक एक है
प्यार अनन्य ! उसी की
विद्युल्लता घेरती रहती है रस-भार मेघ को
थिरक उसी की छाती पर, उसमें छिप कर सो जाती है
आश्वस्त सहज विश्वास भरी ।"

५. "वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सबमें गाता है ।"

इस काल-योजना का संगुम्फन यह द्योतित करने के लिए है कि जो चीज होने के लिए रह जाती है, वह साधना है, साक्षात्कार के पूर्व और साक्षात्कार के बाद के क्षण व्यतीत हैं, क्योंकि उनके साथ सहवर्तमानता का बोध नहीं है । वे क्षण या तो इस बोध की तैयारी के क्षण हैं या इस बोध के प्रभाव के, केवल बोध का

क्षण ही वर्तमान है।

इसके अलावा क्रियारचना में सबसे अधिक पुनरावृत्ति या तो सम्भावनात्मक रूप की है या अनुरोधात्मक रूप की; सम्भावनात्मक रूप संकल्प के द्योतन के लिए है और अनुरोधात्मक रूप आवाहन के लिए। एक अनुरोधात्मक रूप है—'सँभाल मुझे'—इसके अनन्तर केवल एक अनुरोध सात बार दुहराया गया है। दो बार क्रिया पहले है, कर्त्ता बाद में—'गा तू' और पुनः इस क्रम का विपर्यास है। जब 'तू' का साक्षात्कार अंगी, अक्षत आत्मभरित रसविद् के रूप में हो जाता है, तब कर्त्ता पहले क्रिया बाद में और पुनः जब इस आवाहन का विनियोग—

मेरे अँधियारे अन्तस् में आलोक जगा
स्मृति का
श्रुति का

इस विश्वास में हो जाता है तो तीन बार केवल उसी अनुरोध को दुहराया जाता है—

तू गा, तू गा, तू गा

पुनः गाने की प्रक्रिया के स्मृति रूप में रूपान्तरित होने के अनन्तर और श्रुति की पात्रता में 'मैं' आ जाने के कारण अनुरोधों की एक बाढ़-सी आ जाती है। और इन समस्त अनुरोधों के अनन्तर यह अनुरोध तब भी शेष रह जाता है—'तू गा, तू गा, तू गा' क्योंकि इस अनुरोध में कविता का सत्य आता है। विराट् का संगीत व्यक्ति के भीतर बराबर बजता रहे, व्यक्ति बराबर विराट् से बजने और व्यक्ति से बजाने की प्रार्थना करता रहे, इसी में व्यक्ति की सार्थकता है और विराट् की भी। यह अनुरोध ही अपने आप में साक्षात्कार का निविड़तम क्षण है। उसके बाद तो फिर उसका उतार आ जाता है, जो आप्लावित करने वाला कितना भी हो तो भी उसको अनुभव करते समय निजता लौट आती है, व्यक्ति और विराट् का वह आभिमुख्य नहीं रह पाता।

'असाध्य वीणा' एक चीनी आख्यान के ऊपर आधारित है। इस आख्यान के अनुसार एक बड़ा पवित्र वृक्ष है, उसके सार भाग की लकड़ी से एक साधक ने एक वीणा गढ़ी, किन्तु वह स्वयं उसे बजा न सका; उस वीणा को कोई दूसरा कलाकार भी न बजा सका। अन्त में एक साधक आता है और अपने को वीणा और वीणा के स्रोत महान् पवित्र वृक्ष के प्रति अर्पित करता है। एक तरह से वह बजाता नहीं, स्वयं बजना चाहता है और वीणा उसके बजने की प्रक्रिया में बज उठती है। आख्यान को इस कविता में दो नये सन्दर्भ दिये गये हैं। पहला सन्दर्भ है, विभिन्न प्रकार की मानवेतर स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति ध्वनियों के सम्भार के साथी और गृहीता के रूप मे किरीटी तरु को देखना। दूसरा सन्दर्भ है इस समष्टि ध्वनि के ध्यान के द्वारा मुखरित वीणा के स्वर में मनुष्य का अपने भीतर की आकांक्षा को

पूर्ति कराने वाली ध्वनि का साक्षात्कार। इन दोनों प्रकार के सन्दर्भों के संगठन के लिए कवि ने प्रतीकों एवं बिम्बों का प्रयोग किया है।

तरु की व्यापकता और विशालता को द्योतित करने के लिए हिम-शिखर, बादल और वासुकि का अवतरण कराया गया है। पहली बार हिमशिखरों से प्रारम्भ करके वासुकि तक, दूसरी बार वासुकि से प्रारम्भ करके हिमशिखरों तक पहुँचकर, जिससे व्यापकता की परिक्रमा पूरी हो जाय, विशाल तरु को काल-चक्र के परिवर्तन के साकार प्रतिमान रूप में देखने पर उस परिवर्तन के साथ आवर्त्तमान विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का उस विशाल तरु के साथ तादात्म्य स्थापित करके कविता में 'व्याकुल मुखरित वन ध्वनियों के वृन्द गान के मूर्त्त रूप' में विशाल तरु की प्रतिष्ठापना की गयी है, जिससे वीणा का रहस्य खुल सके और आवाहन वीणा का नहीं होता, उस तरु का होता है, जिसकी समग्रता वीणा में समा गयी है और उस तरु के साथ-साथ आवाहन होता है विभिन्न प्रकार के सृष्टि व्यापार के विवर्त्तनों का।

यह आवाहन 'मुझे स्मरण है' से शुरू होने वाले पाँच खण्डों में होता है। प्रत्येक खण्ड के अन्त में आने वाली ध्वनि कोमलतम एवं सूक्ष्मतम है।

पहले खण्ड में—"ओस बूंद की ढरकन इतनी कोमल, तरल कि झरते-झरते मानों हरसिंगार का फूल गयी।"

दूसरे खण्ड में—"झंकार-पुकारों की यति में संसृति की साँय साँय"

तीसरे खण्ड में—"काँपती मन्द गूंज-अनुगूंज-साँस खोयी सी, धीरे-धीरे नीरव।"

चौथे खण्ड के अन्त में—"अचंचल धीर थाप भैंसों के भारी खुर की।"

और पाँचवें खण्ड में—"उस सन्धि-निमिष पुलकन लीयमान।"

ये सभी ध्वनियाँ कम्प-मात्र हैं। अन्तिम खण्ड को छोड़कर प्रत्येक खण्ड का प्रारम्भ एक आकस्मिक और शोर करने वाली ध्वनि से होता है—

(१) "बदली-कौंध पत्तियों पर वर्षा बूंदों की पट-पट।"

(२) "भरे शरद के ताल लहरियों की सर-सर ध्वनि।"

(३) "दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़।"

(४) "बँधे समय वन-पशुओं की नानाविध आतुर तृप्त पुकारें।"

केवल अन्तिम खण्ड में सूक्ष्म से ही प्रारम्भ होता है—

उस क्षण की सहसा चौंकी-सी सिरहन।

इस क्रम की साभिप्रायता यही है कि प्रत्येक उद्दाम पुकार का पर्यवसान नीरव स्पन्दन में होता है और सही माने में असली ध्वनि यह नीरव कम्प ही है। इसीलिए अन्तिम खण्ड में भोर से लेकर साँझ की यात्रा, उदयकालीन क्षण की चौंकी-सी सिरहन को दुपहरी के लम्बे, बिलमे क्षण के तन्द्रालस ठहराव के बिन्दु

तक पहुँचा कर साँझ को सन्धि-निमिष की लीयमान पुलकन तक पर्यवसित करके सम्पन्न हो जाती है।

यदि बादल उद्दाम भावनाओं के ज्वार का प्रतीक है तो उसके जोड़ में महुवे का टपकना प्रथम प्रणय की मौन द्रवणशीलता का। यदि 'चौंके खग-शावक की चिहुँक'' क्रम उलटकर जीवन में नयी उत्कण्ठा के प्रवेश का प्रतीक है तो 'शिलाओं को दुलराते वन-झरनों के द्रुत लहरीले जल का कल-निनाद' वात्सल्य के मुक्त दान का। कुहरे में छनकर आती पर्वती गाँव के उत्सव-ढोलक की थाप जब 'कठफोड़े के ठेके' से मिलती है तो 'गड़रिये की अनमनी बाँसुरी' का जोड़ 'फुलसुंघनी आतुर फुरकन' से। आनन्द और विषाद दोनों ही जीवन के एक दूसरे के पूरक क्षण हैं और इन दोनों के योग से ही जीवन में ओस बूँद की ढरकन की कोमलता, तरलता और दूसरे के लिए द्रवणशीलता आती है। वह झरकर भी सार्थक हो जाता है और जिस ज़मीन पर झरता है, उस जमीन को भी हरसिंगार की तरह झरकर सार्थक कर देता है।

यदि पहले खण्ड में आकस्मिकता है तो दूसरे खण्ड में लम्बी निरन्तर और अविच्छिन्न ध्वनियों की शृंखलाएँ आती हैं। पहले खण्ड में आरम्भ बदली से होता है, दूसरे में शरद से। इसीलिए इस खण्ड में कोई हलकी उत्सुकता नहीं है, बल्कि एक आरोही पुकार है, एक स्थिर मनोभाव है, चाहे वह साथी को बुलाने के लिए हो, चाहे साथ मिलकर ऊँची उड़ान भरने के लिए हो, चाहे बाधाओं को स्वीकार न करने वाली उन्मद भाव-दशा का हो, चाहे उद्दाम प्रवाह वाले आत्मोत्सर्ग का, पर इस निरन्तर आरोही स्वर की भी यति एक नीरव ध्वनि में है—संसृति की साँय-साँय में। सन्नाटा सब ध्वनियों को सोख लेता है, अकेलापन सब भावों के ऊपर छा जाता है।

तीसरे खण्ड मे विध्वंसक ध्वनियाँ आती हैं—सृष्टि का क्रम ही यही है—सत्व, रजस् और तमस्; उत्सुकता, राग और ध्वंस; या उस ध्वंस के विध्वसक तत्त्वों के रूप में काले मेघों की बाढ़ की चिंघाड़ से शुरू करके जमे-पाले से तनी कटोरी-सी सूखी घासों की टूटन तक एक सिलसिला चलता है।

इस विध्वंस के जवाब में भी एक ध्वनि आती है—'ऐंठी मिट्टी का स्निग्ध घाम में धीरे-धीरे रिसना' और 'हिमतुषार के फाहों के द्वारा धरती के घावों को चुपचाप सहलाने' की—क्योंकि प्रत्येक विध्वंस का एक उपशम है—वह उपशम तितिक्षा है—वह उपशम ताप से भी भीतर सूखने के बजाय आर्द्र होना है, इसीलिए घाटियों में गिरती चट्टानों की गूँज काँपती मन्द्र गूँज बनकर रह जाती है, ऐसी कि वह खोयी-सी साँस लगे।

चौथे खण्ड में एक ओर वन-पशुओं की नानाविध आतुर तृप्त पुकारें हैं, दूसरी ओर ऐसी कोमल ध्वनि है जैसे 'कमल-कुमुद पत्रों पर चोर-पैर द्रुत धावित

जलपंछी की चाल' या 'थाप दादुर के चतुर छलाँगों की' या कुछ और अधीर होकर 'पथी के घोड़े की टाप'—और इन समस्त कोमल-अकोमल आतुरताओं के जवाब मे एक—'अचंचल धीर थाप भैंसों के भारी खुर की।' कुल उद्देश्य ध्वनि की गहराई की तलाश में केन्द्रित है इसीलिए अन्तिम खण्ड में केवल उस सूक्ष्मता की सिलवटों का वर्णन है।

प्रथम प्रणय की चौंकी-सी सिहरन से शुरू करके विषय-भोग के भरे 'विलमे तन्द्रालस क्षणों' में ठहराव और तारों की तरल कँपकँपी में, स्पर्शहीन झरने मे जो जीवन-परिणति है और जिस परिणति में 'निःसंख्य सवत्सा युवती मालाओं के आशीर्वाद लीयमान' हैं, वही ध्वनि-यात्रा की असली उपलब्धि है। यह उपलब्धि ही 'मैं' को भुला देती है और सुनने वाला 'मैं' से परे शब्द में लीयमान हो जाता है।

'असाध्य वीणा' सतही रूप में आख्यान-काव्य होते हुए भी भीतरी स्तर पर गीति-काव्य है, क्योंकि इसमें कहानी एक ब्याज मात्र है। मूल प्रतिपाद्य समष्टि के ध्यान में व्यष्टि का विलयन और उस विलयन के द्वारा समष्टि का व्यष्टि में अलग-अलग प्रतिविम्बन है। यह व्यापार जिस सघनता के साथ द्योतित किया गया है, उसमें ध्वनि-संरचना निरन्तर मोड़ लेती रहती है, विस्मय का स्वर बहुत प्रमुख रहता है और स्मृति से उद्‌बोधित होने वाली भावप्रवणता ही सबसे ज्यादा छा जाती है। इसीलिये यहाँ भाषा प्रतीकों, बिम्बों और उपमानों का सहारा लेने के लिए लाचार हो जाती हैं। इस कविता में जहाँ सम्बोधन है भी, वह सम्बोधन केवल कहने के लिए 'तुम' में है, वस्तुतः वह 'मैं' की बिन्दु को अपने में समेटने वाले 'हम' के सम्भार की ओर ही उन्मुख है। 'तुम' दूसरे शब्दों में 'मैं' का ही एक एका-एक उमड़ने वाला विराट् आकार है।

कविता में सम्बोधन करते समय विशेषणों की लड़ी इस विराट् बोध की प्रतीति कराने के लिए ही पिरोयी गई है, चाहे समानाधिकरण संज्ञा शब्दों के रूप मे हो चाहे वह लड़ी वाक्यों के रूप में हो।

> ओ दीर्घकाय !
> ओ पूरे झारखण्ड के अग्रज,
> तात, सखा, गुरु, आश्रय,
> त्राता महच्छाय,
> ओ व्याकुल मुखरित वन-ध्वनियों के
> वृन्दगान के मूर्त रूप, (समानाधिकरण गुच्छ)

> अति प्राचीन किरीटी तरु से इसे गढ़ा था—
> उसके कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने,
> कन्धों पर बादल सोते थे,

उसकी करि-शुण्डों सी डालें
हिम-वर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थीं परित्राण,
कोटर में भालू बसते थे,
केहरि उसके वल्कल से कन्धे खुजलाने आते थे।
और—सुना है—जड़ उसकी जा पहुँची थी पाताल-लोक,
उसकी गन्ध-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकि सोता था।
(उपवाक्य-गुच्छ)

नाटकीय संरचना में विशेषण स्थितियों के मोड़ की ओर संकेत देने के लिये उपयोजित होते हैं, जब कि गीतात्मक संरचना के विशेषण भीतर के उच्छल भाव-धारा को, जो शब्दों में अट नहीं पा रही है, कुछ आसपास जाने वाले शब्द के सदृश रूप में अपने को अंकित करते हैं। इसीलिये इन विशेषणों में नाटकीय विशेषण की तरह संयत भाव या कसाव नहीं होता है। उद्दाम आवेग और अयथेष्ट अभिव्यंजन का भाव बराबर संरक्षित होता है, अपने को वीणा का अंग कहकर 'प्रियंवद' सन्तुष्ट नहीं होता है, एक विशेषण जुड़ता है 'अपंग अंग', अपंग इसलिये कि अंगी की व्यापारवत्ता उससे विच्छिन्न है। इतना कहते ही वह वीणा को सम्बोधित करने लगता है—

किन्तु अंगी, तू अक्षत, आत्म-भरित,
रसविद्,
तू गा।

ये चारों विशेषण अपने अभाव की पूर्ति की आकांक्षा से वीणा को दिये जाते है। वीणा के इस रूप के आह्वान से अंग की अपंगता, अंग की खण्डता, अंग की रिक्तता और अंग की विरसता अंगी के साथ जुड़कर दूर हो जाती है।

इसी प्रकार जहाँ अनेक ध्वनि-चित्रों की लड़ियाँ स्मृति की कड़ियों के रूप में पिरोयी गई हैं, वहाँ भी संक्षिप्त रूप में ही सही, पर प्रत्येक ध्वनि-व्यापार के दिक्कालद्योतक वैशिष्ट्य को इसलिये आँका गया है कि व्यष्टि की हर रंगत अपनी पूर्ण अद्वितीय अभिव्यक्ति के साथ समष्टि से उद्भासित हो, वर्षा बूँदों की पट-पट कौंध में और पत्ती पर जितनी सार्थक है अन्यत्र नहीं। उसी प्रकार महुए का चुपचाप टपकना घनी रात में जितनी उजास और रस की सृष्टि करता है उतना दिन में नहीं। प्रत्येक ध्वनि एक ध्वनि है और साथ ही साथ एक पूरा विम्ब, विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं तथा विभिन्न प्रकार के उल्लासों, विभिन्न प्रकार की उपलब्धियों और विभिन्न प्रकार के अभावों, विभिन्न प्रकार की गतियो और विभिन्न प्रकार के ठहरावों का विम्ब है। इन विम्बों के क्रम में एक क्रमिक आरोह-अवरोह है। जैसा कि ऊपर संकेतित किया जा चुका है—एक आकस्मिक और अत्यन्त संलक्ष्य ध्वनि से प्रारम्भ होकर एक सूक्ष्म मौन में हर एक क्रम का

हर एक कड़ी का अन्त होता है, यह द्रुत-विलंबित क्रम निरन्तर चलता रहता है जब तक पूरा का पूरा क्रम 'संधि-निमिष की पुलकन' में लीयमान नहीं हो जात है।

कोई चाहे तो इन ध्वनियों को जड़-चेतन की सहज ध्वनि-शृंखला के रूप मे स्वीकार करते हुए इन सब की समष्टि में ब्रह्मा का अखण्ड, अशेष प्रभावमय सगीत सुनकर ही तन्मय हो सकता है, पर कविता की गीतात्मक संरचना यह माँग करती है कि इन ध्वनिचित्र के साथ अनुभव की अद्वितीयता भी जुड़ी हो। 'वर्षा-बूंदो की पट-पट' केवल पत्तियों पर ही नहीं, उद्दाम प्रेम के आवेग की झंकृति का स्वर भी है। 'महुए का टपकना' केवल फूल का टपकना ही नहीं, बड़ी प्रतीक्षा के बाद आकुल बसन्त की घनी रात अनजतलाये प्रीति की उपलब्धि भी है। 'चौंके खग-शावक की चिहुँक' अनागत भय की आशंका का रोमाञ्च भी है। इसी प्रकार उल्लास-विषाद, उत्साह-अवसाद, क्रन्दन-उन्मान्धता, उद्दाम और आवेग तथा क्रन्दन, स्वप्नमय आकांक्षा, निरन्तर व्याकुलता, सूनापन, आक्रोश, विध्वंस, निर्ममता, करुणा और अनेक प्रकारके मनोवेगात्मक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ, जो इन चित्रों में प्रतिध्वनित होती है, वे अत्यन्त सार्थक विशेषणों के द्वारा अनुभव की निजता को प्रमाणित करती हैं। पूरा का पूरा क्रम आतुरता की तृप्ति में, अधीरता के धैर्य में, चौंकने की सिहरन के तन्द्रालस ठहराव में और शब्दों के निश्शब्द विलय में ही काव्यार्थ केन्द्रित है, इस ओर ध्यान आकृष्ट करता है। एक लम्बी साधना है, इसीलिये जब वीणा के बजने का प्रभाव वर्णन करने का क्रम आता है तो अत्यन्त अमूर्त ध्वनि से प्रारम्भ होकर के गोधूलि की टुन-टुन और प्रलय के डमरू नाद जैसे अत्यन्त मूर्त ध्वनियो मे पर्यवसान होता है, अर्थात् जहाँ आकर ध्वनि-शृंखला अपनी समग्रता पाती है, वही से पुनः प्रभाव के रूप में प्रारम्भ होकर छोटे-छोटे विपरीतगामी टुकड़ो मे अभिव्यक्त होती चली जाती है। राजा-रानी का धर्म और प्रेम और उत्सर्ग-बोध प्रत्येक जन के अपने-अपने विशिष्ट सार्थक मनोभाव को आपूरित करने वाली वस्तु के ध्वनि के रूप में प्राप्त होते हैं जिसमें प्रत्येक को अपने अभाव की पूर्ति मिल जाती है, क्योंकि प्रत्येक के देवता उसकी आकांक्षा का ही आकार ग्रहण करके अवतरित होते हैं। समष्टि-चैतन्य का उदय व्यष्टि के विलयन से होता है, पर व्यष्टि की इयत्ता को आलोकित और आपूरित करके ही समष्टि-चैतन्य भी सार्थक होता है। उसके बुझने का अर्थ छोटी इयत्ता का विलीन होना नहीं, उस इयत्ता की तथता का नये आलोक में आलोकित होना है। वीणा, वीणा-वादक, वीणा-वादन के श्रोता और वीणा-वादन का क्षण ये सभी डूबते हैं एक साथ, अलग-अलग तिरते हैं, एक साथ झिपते हैं, अलग-अलग जागते हैं, पर अलग-अलग तिरते और जागते समय अनुभवों का विराट् संभार अपने आप केवल एक साधना से एक दूसरे से जुड़ जाता है यह साधना है अपने को वीणा में खो देने की।

पूरी कविता के सादृश्य-विधान में या तो कुछ उत्प्रेक्षाएँ हैं, जिसमें एक साग उत्प्रेक्षा क्रम उलटकर दुहरायी गई है। वह उत्प्रेक्षा है—किरीटी तरु की विशालता की प्रतीति कराने के लिये एक विराट् मानवीय आकार की कल्पना जो उस तरु को देखकर विराट् चैतन्य का आभास देती है। यह उत्प्रेक्षा गम्य है—

उसके कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने,
कन्धो पर बादल सोते थे,
उसकी करि-शुण्डों सी डालें
हिम वर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थीं परित्राण,
कोटर में भालू बसते थे,
केहरि उसके वल्कल से कन्धे खुजलाने आते थे
और—सुना है—जड़ उसकी जा पहुँची थी पाताल-लोक
उसकी गन्ध-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकि सोता था।

उत्प्रेक्षा के ये तीनों अंश हिमशिखर के माध्यम से गौरव के उत्कर्ष, बादल के माध्यम से उदारता, और वासुकि के माध्यम से गहराई, ये तीन आयाम प्रस्तुत करते हैं। इनके अलावा तीन छोटी उत्प्रेक्षायें और हैं। पहली—

ओस-बूँद की ढरकन—इतनी कोमल, तरल कि झरते-झरते मानो
हरसिंगार का फूल बन गयी।

इसमें ओस-बूँदों के झरने को हरसिंगार के फूल के झरने के रूप मे उत्प्रेक्षित करने के पीछे द्रवणशीलता और कोमलता तो है ही, एक मुक्त भाव की शिव-मयता के कारण हरसिंगार का फूल हर श्रृंगार बन जाता है। ओस की बूँदो को इस उत्प्रेक्षा से एक मौन आत्मोसर्ग के द्वारा द्रवणशीलता की रंगत मिल जाती है। दूसरी उत्प्रेक्षा है—

और साँझ को
जब तारों की तरल कँपकँपी
स्पर्शहीन झरती है—
मानो नभ में तरल-नयन ठिठकी
निःसंख्य सवत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद—

इस उत्प्रेक्षा में ताराओं की तरल कँपकँपी को जो सवत्सा युवती माताओं के आशी-र्वाद के साथ उत्प्रेक्षित किया गया है, उसके पीछे एक अमूर्त स्पन्दन को वात्सल्य मे से अनुप्राणित करने के लिये। तीसरी उत्प्रेक्षा है—

अलस अँगड़ाई लेकर मानो जाग उठी थी वीणा।

इसमें वीणा के बजने के क्रम को एक सुन्दरी की अँगड़ाई लेकर जगने के साथ जो उत्प्रेक्षित किया गया है, उसके द्वारा अपूर्व सौन्दर्य सृष्टि का पूर्वाभास देना ही मुख्य उद्देश्य है, क्योंकि उस जगने के साथ-साथ आकर्षण के कई आवर्त जग जाते

हैं। चौथी छोटी-सी उत्प्रेक्षा है—

राजमुकुट सहसा हलका हो आया था, मानो फूल सिरिस का।

इसमें राजमुकुट के हलके होने के भाव को सिरिस के साथ उत्प्रेक्षित करने का प्रयोजन एक तो यह है कि सिरिस ग्रीष्म ऋतु का फूल है और जो राजा दूसरे के ताप को अनुभव करता है। उसी का मुकुट सिरिस की तरह हलका और कोमल हो सकता है। दूसरा अभिप्राय यह है कि राजमुकुट में कठोरता उसकी उपादान सामग्री में जितनी भी हो, पर उसको सम्हालने वाले हृदय में मानवीय कोमलता का होना अत्यन्त ही वीणा के जागरण का सही प्रभाव है। इन उत्प्रेक्षाओं के अलावा जो भी सादृश्य-विधान या सादृश्य-प्रधान लाक्षणिक विधान है, जैसे—

संगीतकार की आँखों में ठंडी पिघली ज्वाला-सी झलक गयी
रोमांच एक बिजली सा सबके तन में दौड़ गया।

(उपमा)

'विद्युल्लता घेरती रहती है रस-भार मेघ को
थिरक उसी की छाती पर उसमें छिपकर सो जाती है

(रूपक)

ये सभी पंक्तियाँ केवल विराट् सृष्टि-व्यापार से भीतर के गहरे भावान्तर से जोड़ने के लिये है। इस कविता की भाषा में ऊपर से कुछ लोगों को भले ही लगे कि रूमानियत के कुछ थोड़े से अभिप्राय या शब्द है, इसलिये कविता मूल स्वर मे छायावादी कविता से दूर नहीं है, पर कविता का पूरा संगुम्फन इतना कसा हुआ है और वाक्य-संगठन संयत है, आवेग की सघनता एक निश्चित उद्देश्य के लिए प्रेरित है और कवि जब चाहता है उसे समेटकर अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय में समाहित कर देता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इतनी ध्वनियों की सार्थकता महा-मौन को अभिव्यक्ति देने के लिये है, महामौन को व्यक्ति-व्यक्ति में मुखरित करने के लिए है। यह सप्रयोजन है कि चार बार मातृ-वात्सल्य का स्मरण इस कविता मे किया गया है। पहली बार वीणा की गोद में बैठे हुए बालक के रूप में, दूसरी बार निःसंख्य सवत्सा युवती माताओं के आर्शीवाद के द्वारा ताराओं की तरल कँपकँपी की उत्प्रेक्षा में, तीसरी बार स्वर-शिशुओं के किलक उठने में, और चौथी बार पुनः सगीतकार के मुग्धा माँ बनकर वीणा को गोदी में सोये शिशु के रूप मे। इस प्रकार माँ शिशु बन जाती है और शिशु माँ—यह रूपान्तर विराट् की अस्ति के प्रति अर्पणीय होकर विराट् की अस्ति को अपने में समाहित करने की उपलब्धि को ही प्रमाणित करता है।

उपर्युक्त व्याख्या में रीति-विज्ञान के समस्त उपकरणों का उपयोग न करके केवल संरचनात्मक विश्लेषण के मुख्य उपादानों को ध्यान में रखते हुए कविता के अर्थ को इसकी भाषा-संरचना के द्वारा पकड़ने कोशिश की गई है। इस कविता के

क्लासिक गुणों का विवेचन और अधिक विस्तार में किया जा सकता है और इसके साथ ही कवि की दूसरी कविताओं के संदर्भ में इसकी रीतिविज्ञान-परक विशेषता और अलग से दिखायी जा सकती है। प्रस्तुत व्याख्या इसके प्रारम्भिक विश्लेषण का निदर्शन मात्र है।

इस परिशिष्ट में तीन लम्बी कविताओं की जो व्याख्या प्रस्तुत की गई है वह एक ऐसे प्रयोग के रूप में जो नया न होते हुए भी आज के सन्दर्भ में सार्थकता रखता है। यों तो कविता की व्याख्या के सन्दर्भ मे विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये जाते रहे हैं, जैसा कि पहले अध्याय में संकेत दिया जा चुका है।

प्रस्तुत व्याख्याएँ न तो निरी सांख्यिकीय व्याख्याएँ हैं, न कवि-केन्द्रित या कवि के परिवेश में केन्द्रित मनोवैज्ञानिक या समाजवैज्ञानिक व्याख्याएँ है। रीति-विज्ञान की दृष्टि से कविता के आस्वादनात्मक बोध में क्या सहायता मिल सकती है, केवल इसी उद्देश्य को सामने रखकर प्रस्तुत की गयी ये व्याख्यायें हैं। इन व्या-ख्याओं को न तो अन्तिम विश्लेषण के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए और न इन्हे आशंसापरक कल्पना-विलास मानना चाहिए, क्योंकि ये व्याख्याएँ कविताओ मे बार-बार पढ़ने और कविता के बारे में शोध छात्र-छात्राओं के बीच मे चर्चा करने के बाद उनके स्तर से भी कविता को समझने की कोशिश के बाद प्रस्तुत की गई हैं। लेखक को इसलिए न तो क्षमा-याचना के स्वर में यह कहना है कि यदि आपको रुचे तो व्याख्या आपकी है और न रुचे तो यह त्रुटि मेरी है और न तो शास्त्र के प्रवक्ता के रूप में यह चुनौती ही देनी है कि इसके अलावा कोई दूसरी व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती है। इतना विश्वास जरूर मन में है कि इन व्याख्याओं की शृंखला लेखक स्वयं और लेखक के समझदार पाठक आगे बढ़ायेंगे और इन व्याख्याओं की प्रयोजकता इसी में चरितार्थ होगी।

परिशिष्ट : ३

अधीतव्य ग्रन्थसूची
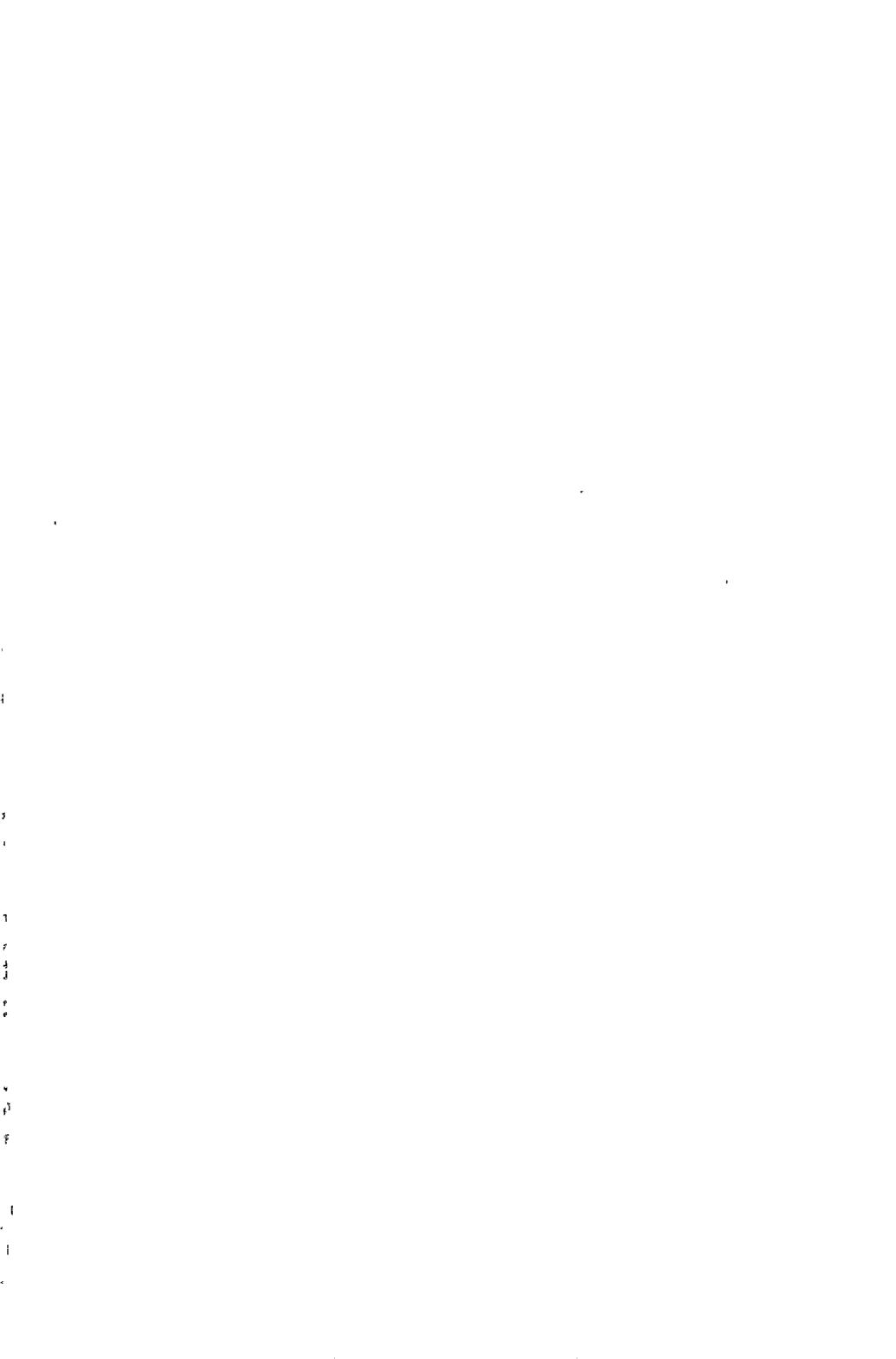
संस्कृत

विष्णुधर्मोत्तरपुराण	
भरत	नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्तपाद कृत अभिनवभारती टीका सहित
भामह	काव्यालंकार
दण्डी	काव्यादर्श
वामन	काव्यालंकारसूत्र वृत्तिसहित
उद्भट	काव्यालंकार-सार-संग्रह
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक, अभिनवगुप्त कृत लोचन टीका सहित
अभिनवगुप्तपाद	तन्त्रालोक, ध्वन्यालोक, लोचन, अभिनवभारती
महिम भट्ट	व्यक्तिविवेक
रुय्यक	अलंकारसर्वस्व
भोज	सरस्वतीकंठाभरण, शृंगार प्रकाश
धनिक/धनंजय	दशरूप, अवलोक सहित
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित
राजशेखर	काव्यमीमांसा
मम्मट	काव्यप्रकाश
जयदेव	चन्द्रालोक
क्षेमेन्द्र	औचित्य विचार चर्चा, सुवृत्ततिलक, कविकण्ठाभरण
गोविन्दठाकुर	काव्यप्रदीप (काव्यप्रकाश पर टीका)
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण
अप्पयदीक्षित	कुवलयानन्द
जगन्नाथ	रसगंगाधर, चित्र मीमांसाखण्डन
विश्वेश्वर पंडित	अलंकारकौस्तुभ

सम्बद्ध भारतीय चिन्तन पर लिखे ग्रन्थ

आनन्दकुमार स्वामी	वैदिक एग्ज़ेम्लरिज्म, दि ट्रांसफार्मेशन ऑफ नेचर इन आर्ट क्रिश्चियन एण्ड ओरियन्टल फिलासफी ऑफ आर्ट
ग० त्र० देशपाण्डे	भारतीय काव्यशास्त्र
एस० हिरियन्ना	आर्ट एक्सपीरियेंस
आर० न्योली	दि एस्थेटिक एक्सपीरियेंस एकार्डिङ् टु अभिनवगुप्त
टामस मुनरो	ओरियन्टल एस्थेटिक्स
एस० के० दे	संस्कृत पोयटिक्स
कुप्पुस्वामी शास्त्री	हाइवेज़ एण्ड बाईवेज़ ऑफ संस्कृत क्रिटिसिज्म
एच० ज़िमर	मिथ एण्ड सिम्बल्स इन इंडियन आर्ट
के० सी० पाण्डेय	इंडियन एस्थेटिक्स
बलदेव उपाध्याय	संस्कृत आलोचना

पाश्चात्य चिन्तन

जे० वाचेक	दि लिंग्विस्टिक स्कूल ऑफ प्राग
आर्तुरों बी फालिको	आर्ट एण्ड एग्ज़िस्टेंशियलिज्म
ओल्गा अखामनोवा	दि प्रिंसिपुल्स एण्ड मेथड्ज़ ऑफ लिंग्वोस्टाइलिस्टिक्स
एन० एन्क्विस्ट	लिंग्विस्टिक स्टाइलिस्टिक्स
एस० चैटमैन	ए थ्योरी ऑफ मीटर
एस० आर० लेनिन	लिंग्विस्टिक स्ट्रक्चर्स इन पोयट्री
के० मुलर-वालमेर	टुवर्ड्ज़ ए फेनसिनालाजिकल थ्योरी ऑफ लिटरेचर ए स्टडी ऑफ विल्हेल्म डिल्थीज़ पोयटिक
एल० विट्गेन्स्टाइन	लेक्चर्स एण्ड कन्वर्सेशन्स ऑन एस्थेटिक्स, सायकालोजी एण्ड रेलीजस बिलीफ़
फिलिप ह्वीलराइट	मेटाफर एण्ड रियलिटी : दि बर्निंग फाउन्टेन—ए स्टडी इन : दि लैंग्वेज ऑफ सिम्बालिज्म
पाल हेन्ले	लैंग्वेज, थाट एण्ड कल्चर
ई० जोर्डन	एसेज इन क्रिटिसिज्म
ओवेन बार्फील्ड	पोयटिक डिक्शन

सी० डे० लेविस	दि पोयटिक इमेज, दि पोएट्स वे ऑफ नॉलेज
केनेथ बर्क	लैंग्वेज एज़ सिम्बॉलिक ऐक्शन
सिस्टर एम्० वेर्नेटा क्विन	दि मेटामार्फ़िक ट्रैडिशन इन माडर्न पोयट्री
जान पिक	ए हापकिन्स रीडर
विलियम एम्पसन	सेविन टाइप्स ऑफ़ ऐम्बिग्विटी
एल० एबरक्रांबी	दि थ्योरी ऑफ़ पोयट्री
ए० मैकिंटोश, एम० ए० के० हैलिडे	पैटर्न्स ऑफ़ लैंग्वेज
टी० ए० सिबेओक	स्टाइल इन लैंग्वेज मिथ—ए सिम्पोज़ियम
रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव	शैली विज्ञान
ए० आर्ने तथा एस० टाम्सन	दि टाइप्स ऑफ़ फोकटेल
सी० बुक्स तथा आर० पी० वारेन	अंडरस्टैंडिंग पोयट्री
सी० एम० बावरा	हिरोइक पोयट्री
एन० फ्राइ	एनाटॉमी ऑफ़ क्रिटिसिज्म
ए० एल० क्रोबर	स्टाइल एण्ड सिविलिज़ेशन्स
एस० लैंगर	फ़ीलिंग एण्ड फ़ार्म
मार्शल मैक्लुहन	दि गुटेनबर्ग गैलेक्सी
जोसेफ़ीन माइल्स	दि कांटिन्युटी ऑफ़ पोयटिक लैंग्वेज, दि वेज़ ऑफ़ पोयेम
एस० एम० बुचर तथा जान गैस्नर	एरिस्टाटिल्स थ्योरी ऑफ़ पोयट्री एण्ड फ़ाइन आर्ट
एस० सपोर्टा तथा टी० ए० सिबेओक	साइकोलिंग्विस्टिक्स—ए सर्वे आफ़ थ्योरी एण्ड रिसर्च प्राब्लेम्स
डब्ल्यू० शुनेकर	एलिमेंट्स ऑफ़ क्रिटिकल थ्योरी
ई० पनोफ्स्की	मीनिंग इन दि विज़ुअल आर्ट्स
आई० दि सोला पूल	ट्रेंड्ज़ इन कंटेंट एनेलिसिस
वी० प्राप	माफ़ोलाजी ऑफ़ दि फोकटेल
जे० सी० रैंसम	दि न्यू क्रिटिसिज्म
बी० एफ़० स्किनर	वर्बल बिहेवियर
एस० एच० स्पेंडर	दि मेकिङ्ग ऑफ़ ए पोयम
ई० स्टैंकीविज़	एक्सप्रेसिव लैंग्वेज
टी० स्टाउफ़र	दि नेचर ऑफ़ पोयट्री
पी० वैलरी	दि आर्ट ऑफ़ पोयट्री

आर० वेलेक तथा ए० वारेन	थ्योरी ऑफ़ लिटरेचर
ई० कासिरेर	लैंग्वेज एण्ड मिथ
मार्टिन फॉस	सिम्बल एण्ड मेटाफर इन ह्यूमन एक्सपीरियेंस
नोएम चौम्स्की	लैंग्वेज एण्ड माइंड
एफ० डब्ल्यू बेटेसन, रोजर फाउलर	एसेज़ इन क्रिटिसिज्म
आर० पी० ब्लैकमूर	लैंग्वेज ऐज़ जेस्चर
डब्ल्यू० के० विम्सट	दि वर्बल आइकन स्टडीज़ इन दि मीनिंग ऑफ़ पोयट्री
मार्कुस बी० हेस्टर	दि मीनिङ ऑफ़ पोयटिक मेटाफर
विलियम राइटर	लॉजिक एण्ड क्रिटिसिज्म
विनिफ्रेड नोवोत्नी	दि लैंग्वेज पोएट्स यूज़
इसाबेल हंगरलैंड	पोयटिक डिस्कोर्स
रोजर फाउलर	एसेज़ इन स्टाइल एण्ड लैंग्वेज
सी० के० आग्डेन तथा आइ० ए० रिचर्ड्स	दि मीनिङ ऑफ मीनिङ
जार्ज ए० कार्वर	एस्थेटिक्स एण्ड दि प्राब्लेम ऑफ मीनिङ
एल० लिन्स्की	सिमेंटिक्स एण्ड दि फ़िलासफ़ी ऑफ लैंग्वेज
डेविड लाज	दि लैंग्वेज ऑफ फ़िक्शन
टी० ईटन	दि सिमैंटिक्स ऑफ लिटरेचर
रिचर्ड फास्टर	दि न्यू रोमैंटिक्स—ए रिएप्रेज़ल ऑफ दि न्यू क्रिटिसिज्म
मेल्विन रेडर	ए मॉडर्न बुक ऑफ एस्थेटिक्स
वाल्टर ए० कोच	रिकरेंस एण्ड ए थ्री मॉडल एप्रोच टु पोयट्री
एस० अब्राहम तथा एफ० कीफर	ए थ्योरी ऑफ स्ट्रक्चरल सिमैंटिक्स
एच० हायखर	लैंग्वेज इन कल्चर
एम० उल्मान	स्टाइल इन दि फ्रेंच नॉवेल
जी० यू० यूल	दि स्टैटिस्टिकल स्टडी ऑफ लिटररी वाकेबुलरी
जी० हेर्डान	लैंग्वेज ऐज़ च्वायस एण्ड चान्स
टी० ए० सिबेओक	करेंट ट्रेंड्ज़ इन लिंग्विस्टिक्स

प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ़ दि नाइन्थ इंटरनेशनल कॉंग्रेस ऑफ लिंग्विस्ट्स पोयटिक्स, इंटरनेशनल कांफ्रेंस ऑफ वर्क इन प्रॉग्रेस डिवोटेड टु प्रॉब्लम्स ऑफ पोयटिक्स, प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ दि टेन्थ इंटरनेशनल कॉंग्रेस ऑफ लिंग्विस्ट्स।

प्राग स्कूल रीडर इन एस्थेटिक्स

प्राग स्टडीज़ इन मैथमेटिकल लिंग्विस्टिक्स

लिंग्विस्टिक्स	(जर्नल)
लैंग्वेज	(जर्नल)
वर्ड	(जर्नल)
जर्नल ऑफ एस्थेटिक्स एण्ड आर्ट क्रिटिसिज्म	(जर्नल)
इंटरनेशनल जर्नल ऑफ स्लाविक लिंग्विस्टिक्स एण्ड पोयटिक्स	(जर्नल)
सेमियाटिका	(जर्नल)
जर्नल ऑफ़ लिटरेरी सिमैंटिक्स	(जर्नल)
पोयटिक्स	(इंटरनेशनल रिव्यू फॉर दि थ्योरी ऑफ लिटरेचर)
आलोचना	(हिन्दी त्रैमासिक)
गवेषणा	(केन्द्रीय हिन्दी संस्थान की पत्रिका)

टिप्पणी—ऊपर दी गयी सूची कुछ चुने हुए संस्कृत, अंग्रेज़ी और हिन्दी में प्रकाशित ग्रन्थों और पत्रिकाओं की है। यह सूची एक प्रकार से कामचलाऊ सूची है।